CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5308

14·6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्देवनंदि-अपरनाम-पूज्यपादस्वामिविरचित

इष्टोपदेश

(टीकात्रय एवं पद्यानुवाद चतुर्युक्त)

पण्डितप्रवर श्रीआशाधरजीकृत संस्कृतटीका

हिन्दी टीकाकार और सम्पादक

श्री धन्यकुमारजी जैन, जैनदर्शनाचार्य,

एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

बैरिस्टर श्रीचम्पतरायजी विद्यावारिधिकृत

The Discourse Divine

जैनधर्मभूषण ब्र. शीतलप्रसादजीकृत हिन्दी पद्यानुवाद

अज्ञातकविकृत मराठी पद्यानुवाद

शाह रावजीभाई देसाईकृत गुजराती पद्यानुवाद

श्री जयभगवानजी जैन, एडवोकेट, पानीपत

विस्तृत अंग्रेजी पद्यानुवाद Happy sermons

5308

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् पुष्प संख्या-२२

प्रेरक : आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज

निर्देशिका : गणिनी आर्यिका स्याद्वादमती माता जी

प्रबन्ध संपादक : ब्र० धर्मचन्द्र शास्त्री/ब्र० प्रभा पाटनी, B.Sc., L.L.B.

ग्रन्थ : **इष्टोपदेश**

प्रणेता : श्री पूज्यपादस्वामी

संस्करण : चतुर्थ, प्रतियाँ १०००
वीर निर्वाण सं० २५३१ सन् २००५

प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

पुस्तक प्राप्ति स्थान : १. आचार्य श्री भरतसागरजी संघ
२. अनेकान्त सिद्धान्त समिति, लोहारिया (बाँसवाड़ा) राज.
३. दिगम्बर जैन महासभा कार्यालय, ऐशबाग, लखनऊ
४. विमल भरत साहित्य सदन, सम्मेद शिखर, मधुबन

मूल्य : २२/- रुपये

मुद्रक : जैन प्रिन्टर्स, उदयपुर, 2425843

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सप्रेम भेंट

श्रीमती सरला जैन

धर्मपत्नी

श्री रवीन्द्र प्रताप जैन

(आगरा निवासी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

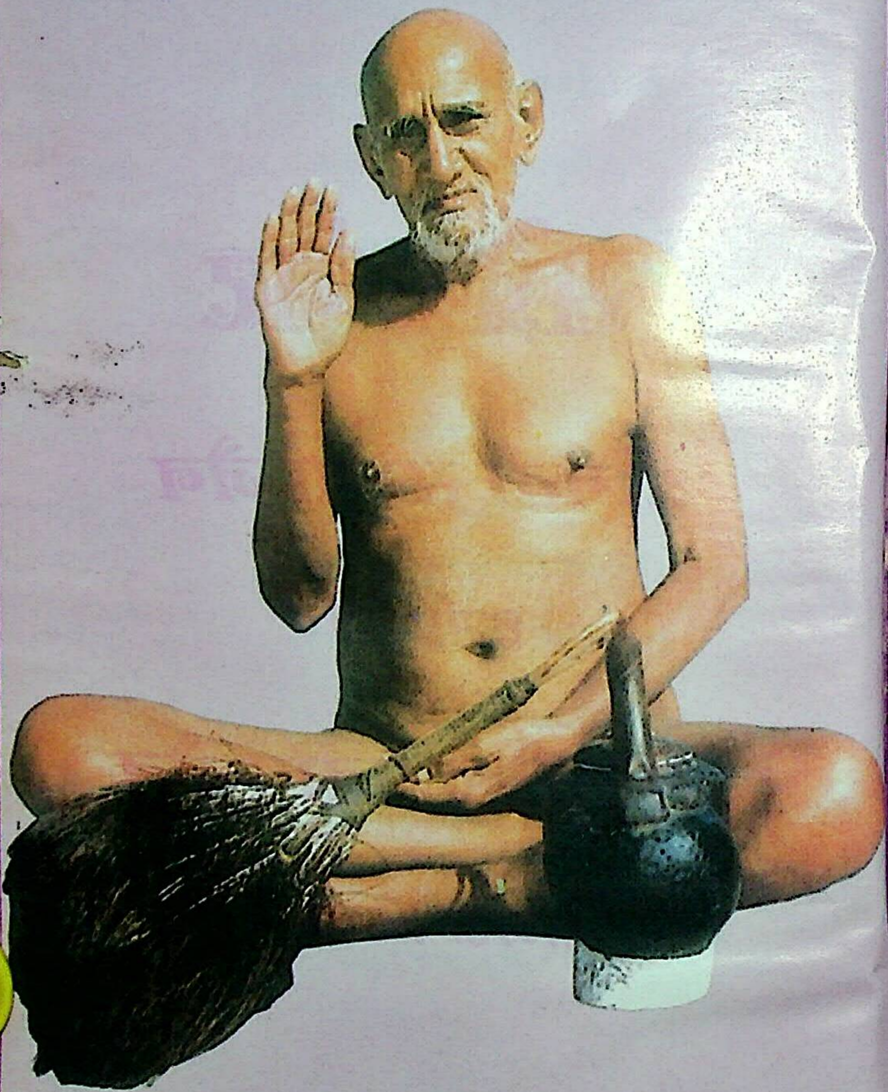

आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

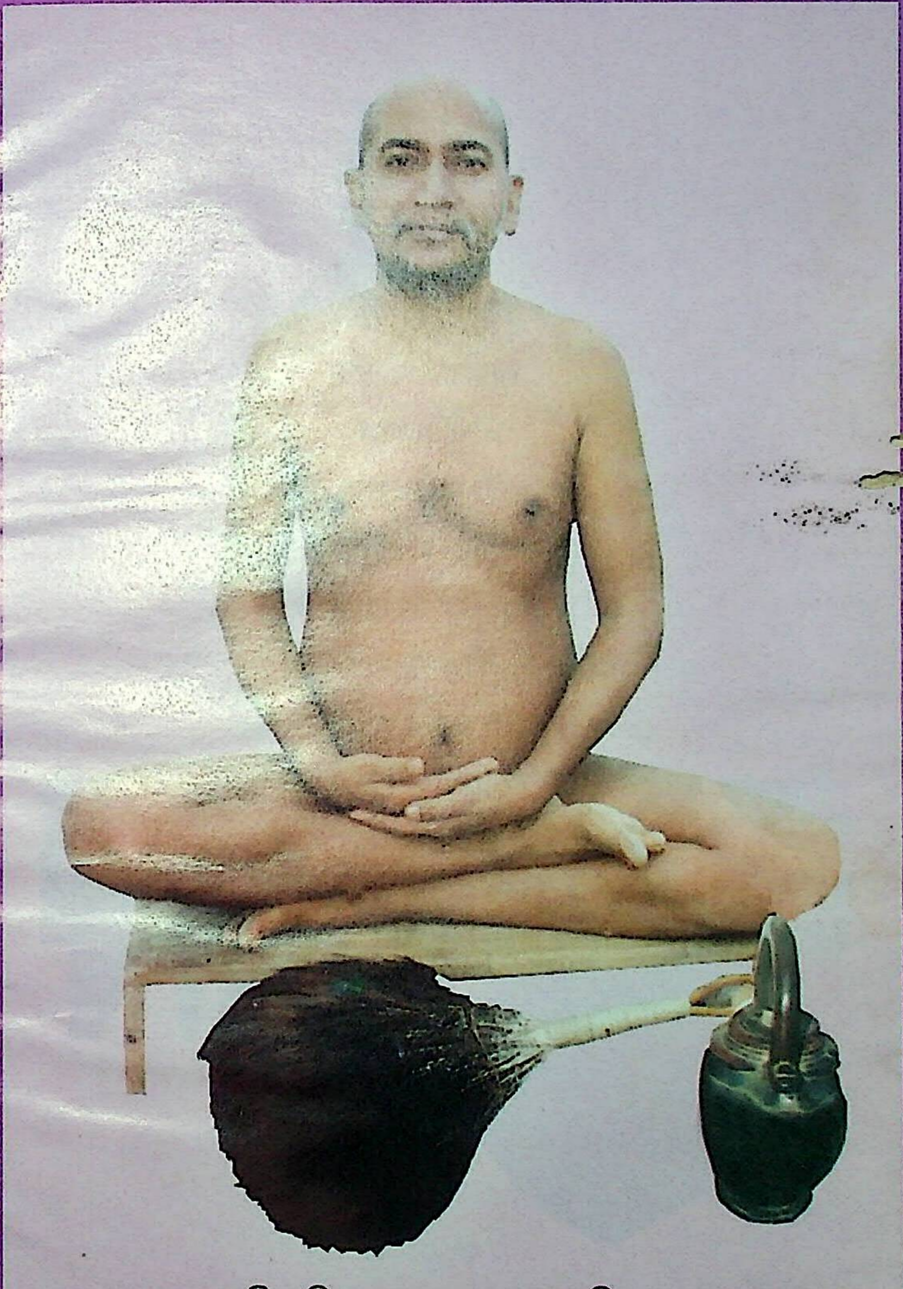

आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

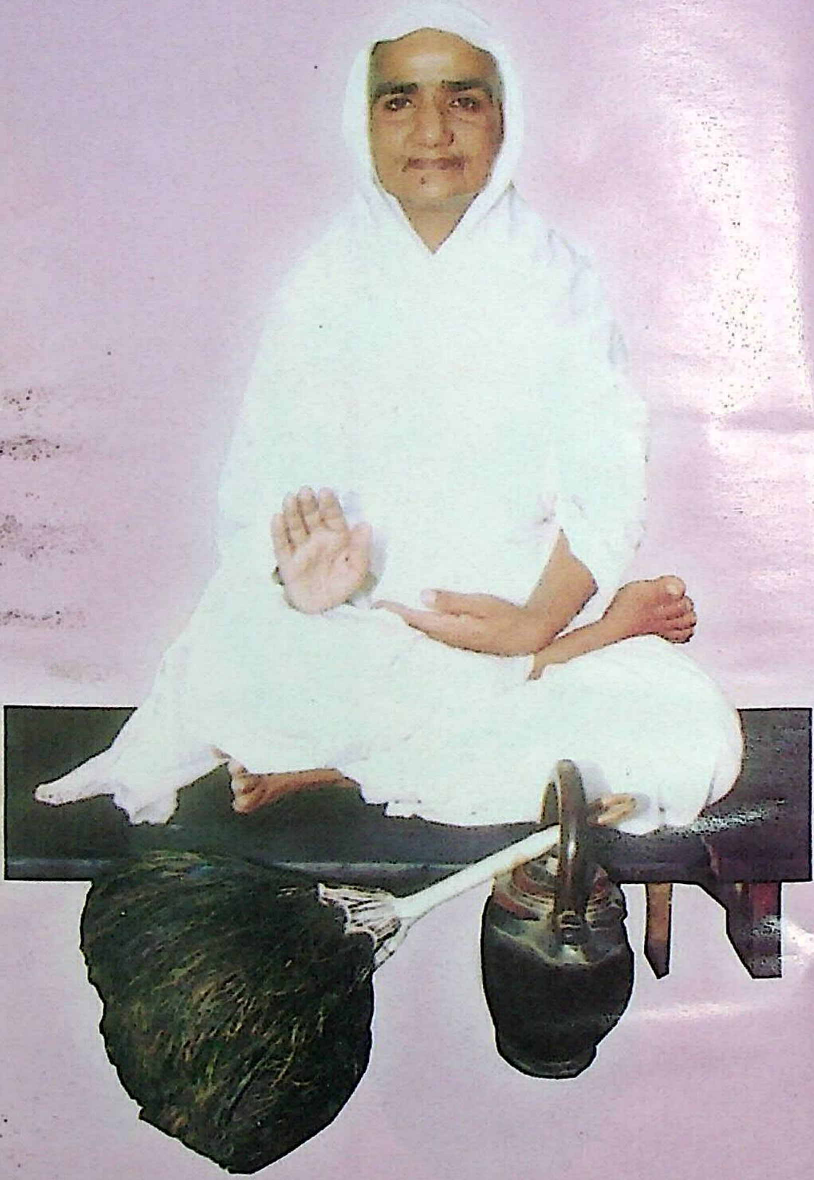

गणिनी आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्पण

चारित्र शिरोमणि

सन्मार्ग दिवाकर

करुणा निधि

वात्सल्य मूर्ति

अतिशय योगी–

तीर्थोद्धारक चूड़ामणि–

अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता

शान्ति–सुधामृत के दानी

वर्तमान में धर्म–पतितों के उद्धारक

ज्योति पुञ्ज–

पतितों के पालक

तेजस्वी अमर पुञ्ज

कल्याणकर्त्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा

बीसवीं सदी के अमर सन्त

परम तपस्वी, इस युग के महान् साधक

जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्रोत

पुण्य पुञ्ज–

गुरुदेव आचार्य वर्य श्री १०८

श्रीविमलसागर जी महाराज के कर–कमलों में

''ग्रन्थराज''

समर्पित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥आर्शीवाद॥

विगत कतिपय वर्षो से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्य पर असत्य का आवरण आने लगा, एकान्तवाद- निश्चयाभ्यास तूल पकड़ने लगा।

आज के इस भौतिक युग में असत्य को अपना प्रभाव फैलाने में विशेष श्रम नहीं करना होता, यह कटु सत्य है, कारण जीव के मिथ्या संस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। विगत ७०-८० वर्षो में एकान्तवाद ने जैनत्व का टीका लगा कर निश्चय नय की आड़ में स्याद्वाद को पीछे धकेलने का प्रयास किया है। मिथ्या साहित्य को प्रसार-प्रचार किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी ख्याति चाही है और शास्त्रों में भावार्थ बदल दिए है, अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

बुधजनों ने अपनी क्षमता पर 'एकान्त' से लोहा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्याहित्य सुलभ नहीं करवा पाए। आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिय अवसर लेकर आया है। आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने आचार्य श्री एवं हमारे सान्निध्य में एक संकल्प लिया कि पूज्य आचार्य श्री की टीरक जयन्ती के अवसर पर आर्य साहित्य का प्रचूर प्रकाशन हो और यह जन-जन को सुलभ हो। फलतः ७५ आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन का निश्चय किया गया है क्योंकि सत्य सूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य अन्धकार स्वतः ही पलायन कर जाता है।

आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु जिन भव्यात्माओं ने अपनी स्वीकृति दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में जिस किसी ने भी इस महदनुष्ठान में किसी भी प्रकार का सहयोग किया है,उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

आचार्य भरतसागर

ता.११-७-१९९०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकल्प

'णाणं पयासं' सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढन्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं। ऊटपटाँग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही हैं। कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है-

येनैते विदलन्ति वादि गिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वराः,
भव्या येन विदन्ति निर्वृति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
यद् बन्धुर्यन्मित्र यदक्षयसुखस्याधारभूतं मतं,
तल्लोकत्रशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि 'सङ्कल्प' के बिना सिद्धि नहीं मिलती। सन्मार्गदिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज की हीरक-जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह सङ्कल्प मैंने प.पू. गुरुदेव आचार्य श्री व उपाध्यायश्री के चरण-सान्निध्य में लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिल रही है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं. धर्मचन्द्र जी व प्रभा जी पाटरी रहे हैं इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु नमोस्तु-नमोस्तु।

गणिनी आर्यिका स्याद्वादमती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

श्रीपूज्यपादस्वामी (देवनन्दि) बहुत प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनके बनाये हुए १ जैनेन्द्र महाव्याकरण,२ सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्रकी सबसे प्राचीन महत्त्वपूर्ण टीका), ३ समाधिशतक या समाधितंत्र, ४ इष्टोपदेश और ५ दश-भक्ति उपलब्ध ग्रन्थ हैं। १ शब्दावतारन्यास, २ जैनेन्द्रन्यास, ३ सारसंग्रह, ४ वैद्यक-ग्रन्थ की भी रचना इन्होंने की है, किन्तु वे वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।

इनका सबसे छोटा किन्तु महत्त्वपूर्ण सुन्दर ग्रन्थ इष्टोपदेश है। इसको यदि जैनोपनिषद कहें तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। इसमें मानव-कल्याणकारी तत्त्वोंका बड़ा सुन्दर हृदयग्राही वर्णन किया गया है। इसमें प्रतिपादित तत्त्वों के प्रचार-प्रसार एवं तदनुकूल उपयोग होने पर जगती-तलका महान् कल्याण हो सकता है।

इस ग्रंथकी पंडितप्रवर **आशाधरजीकृत** संस्कृतटीका, जैनदर्शनाचार्य **श्रीधन्यकुमारजी** एम.ए. (हिन्दी-संस्कृत) साहित्यरत्नकृत हिन्दीटीका, **स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजी** विद्यावारिधिकृत अंग्रेजीटीका (The Discourse Divine) इन तीन टीकाओं तथा स्व.जैनधर्म भूषण **ब्र. शीतलप्रसादजी कृत**, हिन्दी दोहानुवाद, **अज्ञात कवि (श्रोमोतीलाल हीराचन्द्रजी गांधी)** कृत मराठी पद्यानुवाद, **शा. रावजीभाई देसाई** गुजराती पद्यानुवाद और **श्री जय भगवानजी** बी.ए. एल एल.बी. एडवोकेट पानीपतकृत विस्तृत अंग्रेजी पद्यानुवाद (Happy Sermons) सहित प्रकाशित कराने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। समाज पूज्यपाद आचार्य की कृति के साथ इन सात महान् विद्वानों की कृतियों के दर्शन करेगी। अधिक से अधिक लोग लाभ उठावें इसी लिए यह सब प्रयत्न किया है।

इष्टोपदेश पहला ग्रन्थ है, जो इतनी टीकाओं और पद्यानुवादों के साथ प्रकाशित हो रहा है। पूज्यपादस्वामीने इसे छट्ठी शताब्दी में रचा था। ७०० वर्ष बाद तेरहवीं शताब्दी में पंडितप्रवर आशाधरजीने संस्कृतटीका का **श्रीमुनिराज विनयचन्द्रजी** के आग्रह से मालवाकी राजधानी नालछा-धारा-नगरी के श्रीनेमिनाथ मन्दिर में बनाई। ब्र. शीतलाप्रसादजी की हिन्दी टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन् १९२२ में प्रकाशित हुई, जो अब अप्राप्य है। हिन्दीटीका प्रकाशित होने के ३ वर्ष के बाद सन् १९२५ में स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजीने ब्र. शीतलप्रसादजी के आग्रह से अंग्रेजी में टीका लिखी। पं. प्र. आशाधरजी की टीका के ७०० वर्ष बाद बीसवीं शताब्दी में जैनदर्शनाचार्य श्रीधन्यकुमारजी एम.ए. साहित्यरत्न ने स्व. आचार्य सूर्यसागरजी के आग्रह से मालवाकी राजधानी इन्दौर में नशियाँजी के श्रीपार्श्वनाथ जैन मन्दिर में हिन्दी टीका लिखी।

संस्कृतटीका की हस्तलिखित प्रतियों के प्राप्त करने का बहुत प्रयत्न किया पर मिलो नहीं। इसकी संस्कृत टीका माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला के१३वें ग्रन्थ तत्त्वानुशासनादिसंग्रह में छपी प्रति पर से छपाई गई।

परमश्रुत प्रभावक मण्डल-रायचन्द्र शास्त्रमाला अगासके हम आभारो हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को छापने की स्वीकृति दी है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग श्री भँवरीलालजी, हजारी बागने दिया है उनके भी हम आभारी हूँ।

अन्तमें उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग किया है।

ब्र०पं० धर्मचन्द शास्त्री
अध्यक्ष, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

वित्तीय (भौतिकवादी) विचार-वैतरणी के बहाव में बहता हुआ वर्तमान युगका मानव, माया ममता मोहादि से मोहित होकर सतत ही सांसारिक स्वार्थ-साधना की पूर्ति हेतु अपनी एड़ी से चोटी तकका पसीना एक करता रहता है। वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य को विस्मृत कर, शान्ति को तिलांजलि दे, चलते-फिरते, उठते-बैठते, जागते, सोते आठों पहर विषय वासनाओं की विकट में बह्नि में झुलसता हुआ संतप्त एवं दुःखी बना रहता है। ऐसी ही आँधियों से व्यथित होता हुआ जन्म-मृत्यु की काँवर को कन्धों पर रख यह नाना गतियों, योनियों एवं पर्यायों में ठोकरे खाता फिरता है।

पाठकगण! इसकी अज्ञतापर हँसिये या तरस न खाइये। यह हालत किसी एक मानव विशेष की नहीं, दसकी नहीं, सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों की नहीं अपितु हम आप समूची मानव-जाति की हो रही है।

संसारी प्राणी की बहिर्मुखी दृष्टि अन्तरोन्मुखी हो सके, वह स्व-पदमें अवस्थित ही सुपथका पथिक बन सके, इसके लिये आवश्यक है कि वह इष्ट (हितकारी) उपदेश को सुने। उसे एक कान से सुनकर दूसरे कानसे निकालते हुए उस पर मनन करे और इस प्रकार ज्ञात हुए साँचे के ढाँचे में जीवन को ढाल लेवे।

इस ओर प्रवृत्ति या कदम बढ़ाने के पूर्व यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि सभी उपदेश इष्ट तथा हितकारी नहीं होते हैं। इष्ट उपदेशके उपदेष्टा में पूज्यपादता होनी चाहिये। पूज्यपादता संयमकी प्रकषंता एवं ज्ञानकी निर्मलता के बिना हो नहीं सकती। अतएव निष्कर्ष निकला कि पूज्यपाद द्वारा प्रणीत जो उपदेश होगा वह न केवल इष्ट अपितु प्राणि-हितकारक एवं स्वस्वपावबोधक भी होगा।

प्रसन्नता है कि पाठकों के समक्ष आज श्रीपूज्यपादस्वामी जिनका कि दूसरा नाम देवनन्द्याचार्य भी था, उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट-उपदेश (इष्टोपदेश) को, अनेक भाषाओं के गद्य-पद्यानुवादों सहित, सम्पादित कर सामने लाने का अवसर प्राप्त हो रहा है।

ग्रंथकारका परिचय

वेद (ज्ञान) वृक्षकी सिद्धान्त, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक आदि शाखा प्रशाखाओं के पारंगत, अनेक ग्रन्थों के प्रणेता, देवों के द्वारा पूजित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीपूज्यपादस्वामी का जन्म कर्नाटक प्रान्त के अन्तर्गत कोलंगल नामके नगर में हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्रीमाधवभट्ट तथा माता का नाम श्रीदेवी था। आपने अपने जन्म द्वारा ब्राह्मण कुल को विभूषित किया था।

कन्नड़ भाषा में चंद्रय्य कवि द्वारा लिखित पूज्यपादचरित से ज्ञात होता है कि इनका नाम जन्म से ही पूज्यपाद था किन्तु जब इस तथ्य को श्रवण बेल्गोलाके ४०वें [1]शिलालेखके प्रकाश में देखने का प्रयत्न करते हैं, तो यह प्रमाणता को प्राप्त नहीं होता है। इनका दीक्षा धारण के समय देवनन्दी नाम था। इसके बाद बुद्धि-वैभवके विकास के वश से इनका जिनेन्द्र बुद्धि नाम हुआ तथा देवताओं ने इनके चरणकमलों की पूजा की, अतः जगतीतल पर पूज्यपाद के नाम से ये विख्यात हुए। इसी निष्कर्ष के समर्थन में अन्य [2] शिलालेखों का भी उल्लेख किया जा सकता है, विस्तार भयसे यहाँ (टिप्पणी में) उनके मात्र क्रमांक संख्याकी ही लिखा जा रहा है।

आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) के नामके विषय को और भी गहराई को लिये हुए जब देखते हैं तो उपरिलिखित बात की पुष्टि पट्टावली[3], पुराणा-दिकों से भी होती है।

इस नामके ये ही आचार्य हुए हों ऐसी बात नहीं है। इनके बाद भी बहुत से अन्य इसी नामके धारक ग्रन्थ-रचयिता हुए हैं। पर साहित्य-सौष्ठव, विषय-विवेचन की शैली की दृष्टि से इनकी (इष्टोपदेश के रचयिताकी) रचनायें अनोखी और अनुपमेय [4] हैं। एवं ये महान् वैयाकरण थे अतः भाषा पर एवं उसके साधनभूत शब्दों पर इनका अच्छा आधिपत्य था। जिसकी छटा उनके ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ देखने को मिलती है।

समय निर्णय-जैसा कि लिखा जा चुका है 'पूज्यपाद' नामके कई

---

१. यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो, बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।।-श्र. शि. क्र. सं. ४०

२. (अ) श्र. शि. ले. क. सं. १०५. श्र. शि. ले. क्र. सं. ४०
(ब) श्र. शि. नि. ले. क्र. सं. १०८.

३. (क) यशः कीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
श्रीपूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकरः।। (नन्दिसंघ पट्टावली)
(ख) कवीनां तीर्थकृद्देवः तरां किं तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थंयस्य वचोमयम्।। (आदिपुराण प्र. पर्व)

४. प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।। धनंजयकविकृत नाममाला)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रंथ निर्माता हुए हैं। अतः इनके समय के विषय में विवाद बना रहता है। कोई इन्हें पाणिनि का समकालीन बताते हुए ईस्वी सन्से पाँच शताब्दी पूर्व-का घोषित करते हैं तो अन्य इन्हें विक्रम की पाँचवीं-छठीं शताब्दी का उद्घोषित करते हैं। भिन्न-भिन्न विचार कों के विचारों का मन्थन कर निष्कर्ष रुपमें जो कहा जा सकता है-वह यह है कि राजा दुर्विनीत जो कि अविनीत का पुत्र था, तथा विक्रम की छठी शताब्दी में शासन करता था। इसके शासनकाल में इन्होंने इस भारत-भूमिको अपने जन्म से पवित्र किया था।

पूज्यपादकी पावन कृतियाँ या ग्रन्थ सम्पत्ति

पूज्यपादस्वामी ने जो कुछ भी ज्ञानार्जन किया या बुद्धि-बलसे जाना, उसे उन्होंने शब्द-साधन के द्वारा गूँथकर ग्रन्थों के रुप में रख दिया। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि इन्होंने बहुत बड़े पैमाने पर साहित्य निर्माण की ओर प्रयत्न किया था। आपका बहुत कुछ साहित्य अनुपलब्ध है, फिर जो कुछ वर्तमान में है, वह इस प्रकार है:-

(१) जैनेन्द्रव्याकरण-इसके नाम से ही व्यक्त होता है कि यह व्याकरण-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है। 'बोपदेव' नामक महान् वैयाकरण ने अपने 'मुग्ध-बोध, नामक ग्रन्थ में आठ[४] महा व्याकरणों में इसका उल्लेख किया है। 'वर्द्धमान' नामक कविने भी देवनन्दि (पूज्यपाद) नामके आचार्य का नाम स्मरण किया है। देवनन्दि के द्वारा रचित जैनेन्द्रव्याकरण की महत्ताका एक यह भी प्रमाण है कि पाणिनि के द्वारा निर्मित अष्टाध्यायी के अन्तर्गत गणपाठ में इसका उल्लेख किया गया है।

(२) सर्वार्थसिद्धि-यह श्रीमदुमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रात्मक ग्रंथके अर्थको विशदरुप से विवेचन करने वाला महान् ग्रंथ हैं। और सबसे ज्यादा प्रामाणिक प्राचीन टीका है।

(३) समाधितंत्र या समाधिशतक-सौ श्लोकों में निबद्ध यह एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें आचार्यश्रीने बड़ी गम्भीरता एवं तात्त्विकपने से अध्यात्म विषय का विवेचन बहुत ही हृदयग्राही और सुन्दर किया है। इस पर संस्कृत में अनेक उपयोगी टीकायें हुई हैं। हिन्दी में भी इसका अर्थ लिखा जा चुका है।

(४) इष्टोपदेश-यह छोटा-सा ग्रंथ है इसमें आचार्य श्रीने गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ किया है। थोड़े में बहुत कुछ लिखा गया

४. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्न। पिशलीशाकटायनः।
पाणिन्यअमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः।। धातुपाठः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है इसकी महत्ता, उपयोगितादिको देख पंडितप्रवर आशाधर जीने इस पर संस्कृत टीका लिखी जो कि इसमें सन्नद्ध है। वर्तमान में तो इसके मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।

(५) दशभक्ति–प्रभाचन्द्राचार्य के ''संस्कृताः सर्वे भक्तयः पूज्यपाद–स्वामिकृताः'' इस कथन के सहारे कहा जा सकता है कि इनके रचयिता पूज्य पादस्वामी हैं।

ग्रन्थान्तरों में जो यहाँ वहाँ उल्लेख मिलते हैं उनके सहारे ज्ञात होता है कि उपरिलिखित उपलब्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विविध विषय के ग्रन्थों का प्रणयन भी इन्होंने किया है। वैद्यक ग्रन्थों के रचयिता ये थे, ऐसा शिलालेखों, रसरत्नसमुच्चय, ज्ञानार्णवादि ग्रन्थों के रचयिताओं ने (बसवराज, शुभचन्द्राचार्य ने) अपने–अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है, उससे ज्ञात होता है।

पूज्यपादस्वामी ने 'जैनाभिषेक' नामक ग्रन्थका भी निर्माण किया था। छन्द–शास्त्र विषयक ग्रन्थकी भी इन्होंने रचना की थी ऐसा कहा जाता है। धवलाके वेदनाखण्ड के उद्धरण से ज्ञात होता है कि न केवल इनका व्याकरण,वैद्यक, छन्द–शास्त्र, आध्यात्मिक, साहित्यपर आधिपत्य था अपितु न्याय–शास्त्र के भी ये एक अधिकारी विद्वान् थे। इन्होंने सारसंग्रह नाम के न्याय व सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथका निर्माण किया था। चंद्रय्य कवि द्वारा कन्नड भाषा में लिखित पूज्यपाद चरित को यदि प्रमाण रुप में ग्रहण किया जाय तो उसके सहारे कहा जा सकता है कि पूज्यपादस्वामीने 'अर्हतप्रतिष्ठालक्षण' एवं 'शांत्यक' की भी रचना की थी।

यद्यपि महापुरुषों के विषय में जितना भी लिखा जाय वह सब थोड़ा है, किन्तु साहित्य की वह भी आध्यात्मिक–साहित्य की सृष्टि करने वाला, निस्पृही, निर्ग्रन्थ, साहित्यिक महापुरुष अपने ढंगका अद्वितीय व्यक्ति हुआ करता है। वह सीधी, सरल, हितकारी भाषा का आश्रय ले सच्चे सुहृद् के समान मन–मानसमें निहित विचार–मणि मुक्ताओं को सामने रख देता है और कहता है, कि यह स्वानुभूत–अच्छी तरह से परखी हुईं विचार–मणियाँ हैं। इनसे मुझे शांति, संतोष और आनन्द की अनुभूति हुई है। चाहो तो तुम भी इनका रसास्वाद कर सकते हो। ऐसे ही महापुरुष पूज्यपादस्वामी थे। इन्होंने स्वान्तःसुखकी दृष्टि से साहित्य–सृष्टि कर संसार के समस्त सत्त्वों को समुन्नति का सन्मार्ग सुझाया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंत में अधिक न लिखते हुए, इनके साहित्य से जो हृदय पटल पर विचार अंकित होते हैं वे ये हैं:-पूज्यपादस्वामी न केवल उच्च दर्जे के संयमी थे अपितु महान् विद्वान् थे। उनका जन्म इस भारत-भूमि में छट्ठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। उनको व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त,वैद्यक, छंदशास्त्र, ज्योतिष, साहित्य का ज्ञान ही नहीं अपितु उन पर अधिकार पूर्ण विवेचना करने का सामर्थ्य था। उन्होंने एक पक्षीय साहित्य का ही निर्माण नहीं किया। आध्यात्मिक साहित्य को भी सुन्दर शब्दों में सजोकर सामने रक्खा। ऐसे साहित्यिक योगी महापुरुष को शत-शत नमन हों।

प्रस्तावना समाप्ति के पूर्व उन साहित्यिकों का भी (पूज्य प्रेमी जी श्रीमोती चन्द्रजी कोठारी एम.ए.आदिका) जिनके ग्रन्थों की सहायता इस प्रस्तावना के लिखने में ली है, आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इस धृष्टता को क्षमा करेंगे कि अनुमति लिए बिना उनके ग्रन्थों का सहारा ले लिया गया है।

पाठकगण! मानव जब तक मानवकी दशा में है, उसमें अपूर्णता का होना अवश्यभावी है। अतः न चाहते हुए भी इसमें यदि कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो उसमें मेरी अल्पज्ञताको ही कारण समझें। इतना अवश्य निवेदन है कि यदि महत्त्वपूर्ण कोई त्रुटि खटकती हो तो उसकी सूचना मुझे देवें, जिससे कि यदि अवसर मिला तो अगले संस्करण में उन्हें अलग कर दिया जावे। जिन-जिन सज्जनों ने अपने पद्यानुवादों को इसमें समाविष्ट कराया है, उनको धन्यवाद देते हुए विराम लेता हूँ। विज्ञेषु किमधिकम्।

श्रीनशियाँजी-श्रीपार्श्वनाथ जैनमन्दिर इन्दौर,
अक्षयतृतीया वीर नि.सं. २४८० **धन्यकुमार जैन**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इष्टोपदेश के टीकाकार पं. आशाधर

पं. आशाधरजी जैनसमाज में एक सुप्रसिद्ध बहुश्रुत विद्वान् हो गये है, जिनके बनाये हुए सागारधर्मामृत जैसे ग्रन्थ और अनगारधर्मामुत जैसे ग्रन्थ स्वोपज्ञटीकाओं के साथ लोक में खूब प्रचलित हैं। आप बघेरवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। आपके पिताका नाम सल्लक्षण, माता का श्रीरत्नी, पत्नी का सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड था। वे पहले मांडलगढ़ (मेवाड़) के निवासी थे, शहाबुद्दीन गौरी के हमलों से संत्रस्त होकर सं.१२४९ के लगभग मालवाकी राजधानी धारा में आ बसे थे। वे पहले सलखणपुर में रसे जो धारा के आसपास ही कहीं स्थित था। वहाँ रह कर उन्होंने परमालवंशी देवपाल के राज्य में नागदेव की धर्मपत्नी के लिए, जो उक्त राज्य में चुंगी व टैक्स विभाग में काम करता था सं. १२८३ में रत्नत्रयविधि नाम की कथा संस्कृत गद्य में लिखी थी और बाद को उसे भी त्यागकर जैनधर्म के प्रचार की दृष्टि से नलकच्छपुर (नालछा) में रहने लगे थे। यहीं रहकर आपने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना की है। आपका जिनयज्ञकल्प (प्रतिष्ठासारोद्धार) नाम का ग्रन्थ वि.सं. १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है, जिसकी प्रशस्ति में उन वहुत से ग्रन्थों सूची दी गई है जो उससे पहले रचे जा चुके थे और जिनमें १ प्रमेयरत्नाकर, २ भरतेश्वराभ्युदय काव्य, ३ धर्मामृत (दो भागों में अनगार सागर के भेदसे), ४ ज्ञानदीपिका,५ अष्टाङ्गहृदयोद्योत (वैद्यक),६ मूलाराधनादर्पण, ७ अमर कोष-टीका, ८ क्रियाकलाप, ९ काव्यालंकार-टीका, १० सहस्रनामस्तवन सटीक के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। इसी सूची में इष्टोपदेश टीका का भी नाम दिया है। और इससे प्रस्तुत टीका सं. १२८५ से पूर्वकी रचना है यह सुनिश्चित है। पं. आशाधरजीने सं. १२९२ में त्रिषष्ठि स्मृतिशास्त्रकी रचना की, जिसमें श्रीजिनसेन के महापुराण के आधार पर चौबीस तीर्थंकरों का चरित्र संक्षेप में दिया गया है, सं० १२९६ में सागारधर्मामृतकी टीका की रचना समाप्त की। इस बीच में आप नित्यमहोद्योत (जिनाभिषेक शास्त्र), राजीमती विप्रलम्भ (खण्ड काव्य) और अध्यात्म रहस्य जैसे कुछ और भी महत्त्व के ग्रंथों की रचना कर चुके थे, जिन सबका उल्लेख अनगार धर्मामृतकी टीका प्रशस्ति में पाया जाता है। इस टीका के बाद आपकी किसी दूसरी कृतिका पता अभी तक नहीं चला। आपकी मुख्य कृतियाँ अभी तक भी अनुपलब्ध चली जाती हैं उनके नाम हैं-१. प्रमेयरत्नाकर, २. भरतेश्वराभ्युदयकाव्य, ३. ज्ञानदीपिका, ४. अष्टाङ्गहृदयोद्योत, ५. अमरकोष-टीका, ६. रुद्रटकृतकाव्यालं-कारटीका,७. राजीमती विप्रलम्भ, ८. अध्यात्म रहस्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीदेवनन्दि-पूज्यपाद-स्मरणम्

१. कवीनां तीर्थकृच्छे वः कि तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्।।

–आदिपुराणे–श्रीजिनसेनाचार्यः

२. इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरनेक्षणाः।
देवस्य देवसंघस्य न वन्द्यते गिरःकथम्।।

–हरिवंशपुराणे–पुन्नाटसंघीय श्रीजिनसेनसूरिः

३. अचिन्त्य–महिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः।।

–पार्श्वनाथचरिते–श्रीवादिराजसूरिः

३. अपाकुर्वन्ति यद्वाचः काय–वाक्–चित्तसंभवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।।

–ज्ञानार्णवे–श्रीशुभचन्द्रसूरिः

५. लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते।
देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे।।

–जैनेन्द्रमहावृत्तिः–श्रीअभयनन्दीः

६. पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः।।

–पाण्डवपुराणे–श्रीशुभचन्द्रभट्टारकः

७. यो देवनन्दि–प्रथमाभिधानो, बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।।

–श्रवणबेल्गोल–शिलालेख नं० ४०

८. जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा,
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्घकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा–
भाख्ययातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः।।

–श्रवणबेल्गोल–शिलालेख नं० ४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ।।
धृतिविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभा वमनुविभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्र बुद्धिरिति साधुवर्णितः ।।
–श्रवणबेल्गोल–शिलालेख नं० १०५

१०. श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजल–संस्पर्शनप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ।।
–श्रवणवेल्गोल–शिलालेख नं० १०८

११. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिहतां भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ।।
–नगर ताल्लुका शिलालेख नं० ४६

१२. नमोऽस्तु पूज्यपादाय, समाधिस्वामिने त्रिधा ।
राजचन्द्राय याचेऽहं, समाधिबोध–साधनम् ।।१ ।।
कलिकालानले दग्धान्, जीवांस्त्रातुं समुद्यतः ।
राजचन्द्रसुधासिन्धुर्नमस्तस्मै स्मराम्यहम् ।।२ ।।
नमोऽस्तु पूज्यपादाय, समाधिस्वामिने सदा ।
समाधितन्त्रकर्तारं, नमामि समताधरम् ।।३ ।।
–श्रीराजचन्द्रः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

मंगलाचरण-टीकाकार और मूल ग्रन्थकर्त्ताका - २३
'स्वयंस्वभावाप्ति' का समाधान - २४
व्रतादिकों की सार्थकता - २६
आत्म-परिणामी के लिये स्वर्ग की सहज में ही प्राप्ति
स्वर्ग-सुखों का वर्णन - २७
''सांसारिक स्वर्गादि-सुख भ्रान्त है'' इसका कथन
यदि ये वासनामात्र हैं, तो उनका वैसा अनुभव क्यों नहीं होता? इसका उत्तर-मोहसे ढका हुआ ज्ञान वस्तु स्वरुपको ठीक-ठीक नहीं जानता है - ३१
मोहनीयकर्मके जालमें फँसा प्राणी शरीर, धन, दारा, को आत्मा के समान मानता है - ३३
जीव-गति वर्णन, अपने शत्रुओं के प्रति भी द्वेषभाव मत करो - ३८
राग-द्वेष भाव से आत्मा का अहित होता है - ३९
संसार में सुख है तो फिर इसका त्याग क्यों किया जाय? इसका समाधान - ४१
सांसारिक सुख तथा धर्म, आदि, मध्य और अन्त में दुःखदायी हैं - ४४
'धनसे आत्मा का उपकार होता है', अतः यह उपयोगी है, इसका समाधान - ४५
धनसे पुण्य करूँगा, इसलिये कमाना चाहिए- इसका समाधान - ४६
भोगोपभोग कितने भी अधिक भोगे जायँगे कभी तृप्ति न होगी - ४८
शरीर के सम्बन्ध से पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं शरीर की मलिनता का वर्णन - ५०
जो आत्मा का हित करता है, वह शरीर का अपकारी है और जो शरीर का हित करता है, वह जीवका अपकारक (बुरा क़रने वाला) हैं - ५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान के द्वारा उत्तम फल और जघन्य फल इच्छानुसार
मिलते हैं - ५३
आत्मस्वरुप वर्णन - ५४
मनको एकाग्र कर इन्द्रियों के विषयों को नष्ट कर आत्मा
ज्ञानी परमानंदमयी होकर अपने-आपमें रमता है - ५६
अज्ञभक्ति अज्ञान को ज्ञानभक्ति ज्ञानको देती है,
जो जिसके पास होता है, उसे वह देता है - ५८
आत्मा में आत्मा के चिन्तनरुप ध्यान से, परीषहादिका
अनुभव न होने से, कर्म-निर्जरा होती है - ५९
जहाँ आत्मा ही ध्याता और ध्येय हो जाता है वहाँ अन्य
सम्बन्ध कैसा? - ६२
मोही कर्मों को बाँधता है, और निर्मोही छूट जाता है,
इसलिए हर तरह से निर्ममता का प्रयत्न करे - ६३
मैं एक ममता रहित शुद्ध हूँ, संयोग से उत्पन्न पदार्थ
देहादिक मुझसे सर्वथा भिन्न हैं - ६५
देहादिक के सम्बन्ध से प्राणी दुःख समूह पाते हैं, इससे
इन्हें कैसे दूर करना चाहिए? - ६६
ज्ञानी सदा निःशंक है, क्योंकि उसमें उसमें रोग, मरण
बाल, युवापना नहीं, ये पुद्गल में हैं - ६८
पुद्गलों को बार-बार भोगे और छोड़े, ज्ञानी का उच्छिष्ट-
झूठ में प्रेम नहीं - ६९
कर्म कर्म का भला चाहता है, जीव जीवका, सब अपना-
अपना प्रभाव बढ़ाते हैं - ७०
परका उपकार छोड़कर अपने उपकार में तत्पर होओ-
अपनी भलाई में लगो - ७१
गुरु के उपदेश से अपने और परके भेद को जो जानता है,
वह मोक्षसम्बन्धी सुखका अनुभव करता है - ७२
स्वयं ही स्वयं का गुरु है - ७३
अभव्य हजारों उपदेशों से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। - ७५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सच्चे योगी अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते हैं,
चाहे कुछ भी हो जावे – ७७
स्वात्मावलोकनके अभ्यासका वर्णन – ७७
स्वात्मसंवित्ति बढ़ने पर आत्मपरिणति – ७८
योगी निर्जन और एकान्तवास चाहता है, अन्य सब बातें
जल्दी भुला देता है – ७९
ध्यान में लगे योगी की दशा का वर्णन – ८३
आत्मस्वरुप में तत्पर रहने वाले को परमानन्द की प्राप्ति – ८६
परद्रव्यों के अनुराग करने से होने वाले दोषों का वर्णन – ८६
तत्त्वसंग्रह का वर्णन – ८८
तत्त्वका सार–वर्णन – ८८
शास्त्रके अध्ययन का साक्षात् और परम्परा से होने वाले
फलका वर्णन – ८९
उपसंहार और टीकाकारका निवेदन – ९१
परिशिष्ट नं०१ मराठी पद्यानुवाद – ९२
''नं० २ गुजराती – ९६
''नं० ३ अंग्रेजी अनुवाद
The Discourse Divine – ९८
''नं० ४ अंग्रेजी विस्तृत पद्यानुवाद
Happy Sermons – ११९
''नं०५ मूल श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका – १२५
''नं०६ उद्धृत श्लोकों गाथाओं और दोहों की
वर्णानुक्रमणिका – १२६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ नमःसिद्धेभ्यः

श्रीमत्पूज्यपादस्वामि-विरचित

इष्टोपदेश

श्रीपण्डित आशाधरकृत संस्कृतटीका

भाषानुवाद सहित

उत्थानिका

टीकाकारका मंगलाचरण

परमात्मानमानम्य, मुमुक्षुः स्वात्मसंविदे।
इष्टोपदेशमाचष्टे, स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्॥

तत्रादौ यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्करोतीति परमात्मगुणार्थी ग्रन्थकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा-

जो जिस गुणको चाहने वाला हुआ करता है वह उस उस गुण सम्पन्न पुरुष विशेष को नमस्कार किया करता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। परमात्मा के गुणों को चाहने वाले ग्रंथकार पूज्यपादस्वामी हैं, अतः सर्वप्रथम वे परमात्माको नमस्कार करते हैं।

मूलग्रन्थकर्ता का मंगलाचरण

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिर भावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरुपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

अन्वय-यस्य कृत्स्नकर्मणः अभावे स्वयं स्वभावाप्तिः तस्मै संज्ञानरुपाय परमात्मने नमः अस्तु।

टीका-अस्तु भवतु। किं तन्नमः नमस्कारः। कस्मै, तस्मै परमात्मने। परमः १ अनाध्येयाप्रहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा

१. अनारोपि अप्रतिहत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्मै। किंविशिष्टाय, संज्ञानरुपाय सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादीनामपि लाभात्कर्महन्तृत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च संपूर्णज्ञानं स्वपरावबोधस्तदेव रूपं यस्य तस्मै। एवमाराध्यस्वरुपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह। यस्याभूत्कासौ स्वभावाप्तिः स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्य-परिणतिः। कृतकृत्यतया स्वरुपेऽवस्थितिरित्यर्थः तेन, स्वयं संपूर्णरत्नत्रयात्मनात्मना। क्व सति, अभावे शक्तिरुपतया विनाशे। कस्य, कृत्स्नकर्मणः। कृत्स्नस्य [1]द्रव्यभावरूपस्य कर्मणः आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तस्य।।१।।

अथ शिष्यः प्राह स्वस्य स्वयं स्वरुपोपलब्धिः कथमिति। स्वस्यात्मनः स्वयमात्मना स्वरूपस्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकाभिव्यक्तिरुपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति। अत्राचार्यः समाधत्ते–

अर्थ–जिसको सम्पूर्ण कर्मों के अभाव होने पर स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति हो गई है, उस सम्यक्ज्ञानरुप परमात्माको नमस्कार हो।

विशदार्थ–जिसे आत्मा की परतन्त्रता (पराधीनता) के कारणभूत द्रव्य एवं भावरुप समस्त कर्मों के, सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरुप के द्वारा सर्वथा नष्ट हो जाने से निर्मल निश्चल चैतन्यरुप स्वभाव (कथंचित् तादात्म्यपरिणति) की प्राप्ति हो गई है, उस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरुप आत्मा को जो कि मुख्य एवं अप्रतिहत अतिशयवाला होने से समस्त सांसारिक प्राणियों से उत्कृष्ट है, नमस्कार हो ।।१।।

दोहा– **स्वयं कर्म सब नाश करि, प्रगटायो निजभाव।**
परमातम सर्वज्ञको, वंदो करि शुभ भाव।।१।।

''स्वयं स्वभावाप्तिः'' इस पदको सुन शिष्य बोला–कि ''आत्माको स्वयं ही सम्यक्त्व आदिक अष्टगुणों की अभिव्यक्तिरुप स्वरुप की उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे (किस उपायसे) हो जाती है? क्योंकि स्व–स्वरुप की स्वयं प्राप्ति को सिद्ध करने वाला कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता है, और बिना दृष्टान्त के उपरिलिखित कथन को कैसे ठीक माना जा सकता है? आचार्य इस विषय में समाधान करते हुए लिखते हैं कि–

योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ।।२।।

अन्वय–यथा योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता तथा आत्मनः अपि द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ आत्मता मता।

१. ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि, रागद्वेषादयो भावकर्माणि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका–मता अभिप्रेता लोकैः। कासौ,स्वर्णता सुवर्णभावः। कस्य, दृषदः सुवर्णाविर्भावयोग्यपाषाणस्य। केन, योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानामुपादानानां कारणानां योगेन[1] मेलापकेन संपत्त्या यथा। एवमात्मनोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषद इत्यपिशब्दार्थः। मता कथिता। कासौ, आत्मता। आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चल चैतन्यं। कस्या[2] सत्यां, द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्वयिभावः आदिर्येषां क्षेत्रकालभावनां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च। इच्छातो विशेषणाविशेष्यभाव इति समासः। सुद्रव्य सुक्षेत्रं सुकालः सुभाव इत्यर्थः सुशब्दः प्रशंसार्थः। प्राशस्त्यं चात्र [3] प्रकृतकार्योपयोगित्वं द्रव्यादिस्वादीनां संपत्तिः संपूर्णता, तस्यां सत्याम्।

अथ शिष्यः प्राह–तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति। भगवन् यदि सुद्रव्यादिसामग्र्यां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपलप्स्यते तर्हि व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषामानर्थक्यं निष्फलत्वं स्यादभिप्रेतायाः[4] स्वात्मोपलब्धेः सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः। अत्राचार्यो निषेधमाह–तन्नेति। वत्स! यस्त्वया शङ्कितं व्रतादीनामानर्थक्यं तन्न भवति। तेषामपूर्वशुभकर्म–निरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेशक्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षणशुभोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वादेव च व्यक्तीकर्त्तुं वक्ति– ।।२।।

अर्थ–योग्य उपादान कारण के संयोगसे जैसे पाषाणविशेष स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रुप सामग्री के मिलने पर जीव भी चैतन्यस्वरुप आत्मा हो जाता है।

विशदार्थ–योग्य (कार्योत्पादनसमर्थ) उपादान कारण के मिलने से पाषाणविशेष–जिसमें सुवर्णरुप परिणमने (होने) की योग्यता पाई जाती है वह जैसे स्वर्ग बन जाता है, वैसे ही अच्छे (प्रकृत कार्य के लिए उपयोगी) द्रव्य,क्षेत्र, काल, भावों की सम्पूर्णता होने पर जीव (संसारी आत्मा) निश्चल चैतन्यस्वरुप हो जाता है। दूसरे शब्दों में, संसारी प्राणी जीवात्मा से परमात्मा बन जाता है।

दोहा– **स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय।**
सुद्रव्यादि चारों मिलें, आप शुद्धता थाय ।।२।।

शंका–इस कथन को सुन शिष्य बोला कि भगवन्! यदि अच्छे द्रव्य,क्षेत्र,काल, भावरुप सामग्री मिलने से ही आत्मा स्व स्वरुप को प्राप्त कर लेता

१. मेलापकेन। २. कस्यां सामग्यां विद्यमानायाम्। ३. प्रारब्धकार्यसाधकत्वम्। ४. वाञ्छितायाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, तब फिर व्रत, समिति आदि का पालन करना निष्फल (निरर्थक) हो जायगा। व्रतों का परिपालन कर व्यर्थ में ही शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ?

समाधान–आचार्य उत्तर देते हुए बोले–हे वत्स! जो तुमने यह शंका की है कि व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक हो जायगा, सो बात नहीं है, कारण कि वे व्रतादिक नवीन शुभ कर्मों के बंधके कारण होने से, तथा पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के एकदेश क्षय के कारण होने से सफल एवं सार्थक हैं। इतना ही नहीं किन्तु व्रतसम्बन्धी अनुरागलक्षणरुप शुभोपयोग होने से पुण्य की उत्पत्ति होती है। और वह पुण्य स्वर्गादिक पदोंकी प्राप्ति के लिए निमित्त कारण होता है। इसलिये भी व्रतादिकों का आचरण सार्थक है। इसी बात को प्रगट करने के लिए आचार्य आगे का श्लोक कहते हैं– ॥२॥

वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्बत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥

अन्वय–व्रतैः दैवं पदं वरं, बत अव्रतैः नारकं पदं न वरं प्रतिपालयतोः छायातपस्थयो महान् भेदः अस्ति।

टीका–वरं भवतु। किं तत्? पदं स्थानं। किंविशिष्टं, दैवं देवानामिदं दैवं स्वर्गः। कैर्हेतुभिर्व्रतैर्व्रतादिविषयरागजनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाभ्युदयनिबन्धनत्वेन सकलजनसुप्रसिद्धत्वात्। तर्ह्यऽव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह। नेत्यादि। न वरं भवति। किं तत्? पदं। किंविशिष्टं, नारकं नरकसंबन्धि। कैः, अव्रतैः हिंसादिपरिणामजनित, पातकैः। बतेति खेदे कष्टे वा। तर्हि व्रताव्रतनिमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यतीत्याशङ्कायां तयोर्महदन्तरमिति दृष्टान्तेन प्रकटयन्नाह –छायेत्यादि। भवति। कोऽसौ? भेदः अन्तरं। किंविशिष्टो, महान् बृहन्। क्योः, पथिकयोः। किं कुर्वतोः, स्वकार्यवशात्रगरान्तर्गतं तृतीय स्वसार्थिकमागच्छन्तं पथि प्रतिपालयतोः प्रतीक्षमाणयोः। किं विशिष्टयोः सतोछायातपस्थयोः। छाया च आतपश्च छायातपौ तयोः स्थितयोः। अयमर्थो, यथैव छायास्थितस्तृतीयागमनकालं यावत्सुखेन तिष्ठति आतपस्थितश्च दुःखेन तिष्ठति तथा व्रतादिकृतानि स आत्मा जीवः सुद्रव्यादयो मुक्तिहेतवो यावत्संपद्यते तावत्स्वर्गादिपदेषु सुखेन तिष्ठति अन्यश्च नरकादिपदेषु दुःखेनेति। अथ विनेयः पुनराशङ्कते। एवमात्मनि भक्तिरयुक्ता स्यादिति भगवन्नैवं चिरभाविमोक्षसुखस्य व्रतसाध्ये संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिर्भावविशुद्ध आन्तरोऽनुरागो अयुक्ता अनुपपन्ना स्याद्भवेत् तत्साध्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवान्तरप्राप्यस्य[1] च स्वर्गादिसुखस्य

१. मध्यलभ्यस्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतैकसाध्यत्वात्। अत्राप्याचार्यः समाधत्ते-तदपि नेति। न केवलं व्रतादीनामानर्थक्यं न भवेत्। किं तर्हि, तदप्यात्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि१ त्वया क्रियमाणं न साधु स्यादित्यर्थः। यतः- ॥३॥

अर्थ-व्रतों के द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु खेद है कि अव्रतों के द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे छाया और धूपमें बैठने वालों में अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रतके आचरण व पालन करने वालों में फर्क पाया जाता है।

विशदार्थ-अपने कार्य के वश से नगर के भीतर गये हुए तथा वहाँ से वापिस आने वाले अपने तीसरे साथी की मार्ग में प्रतीक्षा करने वाले जिनमें से एक तो छाया में बैठा हुआ है, और दूसरा धूपमें बैठा हुआ है-दो व्यक्तियों में जैसे बड़ा भारी अन्तर है, अर्थात् छाया में बैठने वाला तीसरे पुरुष के आने तक सुख से बैठा रहता है, और धूपमें बैठने वाला दुःख के साथ समय व्यतीत करता रहता है। उसी तरह जब तक जीवको मुक्ति के कारण भूत अच्छे द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, आदिक प्राप्त होते हैं, तब तक व्रतादिकों का आचरण करने वाला स्वर्गादिक स्थानों में आनन्द के साथ रहता है। दूसरा व्रतादिकों को न पालता हुआ असंयमी पुरुष नरकादिक स्थानों में दुःख भोगता रहता है। अतः व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक नहीं, अपितु सार्थक है ॥३॥

दोहा- मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप।
व्रतपालनसे देवपद, अव्रत दुर्गति कूप ॥३॥

शंका-यहाँ पर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है-"यदि उपरिलिखित कथन को मान्य किया जायगा, तो चिद्रुप आत्मा में भक्ति भाव (विशुद्ध अंतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायगा? कारण कि आत्मानुराग से होने वाला मोक्षरुपी सुख तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा रखने के कारण बहुत दूर हो जायगा और बीच में ही मिलने वाला स्वर्गादि-सुख व्रतों के साहाय्य से मिल जायगा। तब फिर आत्मानुराग करने से क्या लाभ? अर्थात् सुखार्थी साधारण जन आत्मानुरागकी ओर आकर्षित न होते हुए व्रतादिकों की ओर ही अधिक झुक जायँगे।

१.अयुक्तिः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान–शंकाका निराकरण करते हुए आचार्य बोले, ''व्रतादिकों का आचरण करना निरर्थक नहीं है।'' (अर्थात् सार्थक है) इतनी ही बात नहीं किन्तु आत्म-भक्तिको अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है। इसी कथनकी पुष्टि करते हुए आगे श्लोक लिखते हैं–

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्द्धे किं स सीदति? ॥४॥

अन्वय–यत्र भावः शिवं दत्ते तत्र द्यौः कियद्दूरवर्तिनी, यः गव्यूतिं आशु नयति सः किं क्रोशार्द्धे सीदति?।

टीका–यत्रात्मनि विषये प्रणिधानं भावः कर्त्ता दत्ते प्रयच्छति। किं तच्छिवं मोक्षं, भावकाय भव्यायेति शेषः। तस्यात्मविषयस्य शिवदानसमर्थस्य भावस्य द्यौः स्वर्गः कियद्दूरवर्तिनी कियद्दूरे किंपरिमाणे व्यवहितदेशे वर्तते? निकट एवं तिष्ठतीत्यर्थः। स्वात्मध्यानोपात्तपुण्यस्य तदेकफलत्वात्। तथा चोक्तं

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः। अनन्तशक्तिरात्मायं भुक्तिं मुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥ त.शा.
ध्यातोर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये। तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥१९७॥ त.शा.

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह–य इत्यादि। यो वाही को नयति, प्रापयति। किं, स्वबाह्यं भारं। कां, गव्यूतिं क्रोशयुगं। कथम्, आशु शीघ्रं। स किं क्रोशार्द्धे स्वभारं[1] नयन् सीदति खिद्यते? न खिद्यत इत्यर्थः। महाशक्त वल्पशक्तेः सुघटत्वात्।

अथैवमात्मशक्तेः स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समर्थिते [2]प्रतिपाद्यस्तत्फल-जिज्ञासया[3] गुरुं पृच्छति–स्वर्गे गतानां किं फलमिति? स्पष्टं गुरुरुत्तरयति– ॥४॥

अर्थ–आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देने में समर्थ आत्मपरिणाम के लिए स्वर्ग कितनी दूर है? न कुछ। वह तो उसके निकट ही समझो। अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यान से पैदा किये हुए पुण्यका एक फलमात्र है। ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है। तत्त्वानुशासन में कहा है–''गुरुपदेशमासाद्य०''

''गुरुके उपदेशको प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियों के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा चिंतवन करने वाले को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है। इस आत्मा को अरहंत और सिद्धके रुपमें चिंतवन

१. वाह्यं। २. शिष्यः। ३. ज्ञातुमिच्छया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया जाय तो यह चरमशरीरी को मुक्तिप्रदान करता है और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्म–ध्यान से उपार्जित पुण्य की सहायता से भुक्ति(स्वर्ग चक्रवर्त्यादिके भोगों) को प्रदान करने वाला होता है।''

श्लोक की नीचे की पंक्तिमें उपरिलिखित भावको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं–

देखो जो भारको ढोनेवाला अपने भारको दो कोसतक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भारको आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा? नहीं। भारको ले जाते हुए खिन्न न होगा। बड़ी शक्तिके रहने या पाये जाने पर अल्प शक्तिका पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है।

दोहा– **आत्मभाव यदि मोक्षप्रद,स्वर्ग है कितनी दूर।**
दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख पूर ॥४॥

इस प्रकार से आत्म–शक्तिको जब कि स्वर्ग–सुखों का कारण बतला दिया गया तब शिष्य पुनः कुतूहल की निवृत्ति के लिये पूछता है कि ''स्वर्ग में जाने वालों को क्या फल मिलता है?'' ।।४ ।।

आचार्य इसका स्पष्ट रीति से उत्तर देते हुए लिखते हैं–

हृषीकजमनातङ्कं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव॥५॥

अन्वय–नाके नाकौकसां हृषीकजं अनातङ्कं दीर्घकालोपलालितं सौख्यं नाके नाकौकसामिव (भवति)।

टीका–वत्स अस्ति। किं तत्, सौख्यं शर्म। कैषां, नाकौकसां देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामेकेन्द्रियाणाम्। क्व वसतां, नाके स्वर्गे। न पुनः क्रीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादौ। किमतीन्द्रियं तत् नेत्याह–हृषीकजं हृषीकेभ्यः समीहितानन्तरमुपस्थित निजं निजं विषयमनुभवद्भ्यः स्पर्शनादीन्द्रियेभ्यः सर्वाङ्गीणाल्हादनाकारतया[१] प्रादुर्भूतं। तथा राज्यादिसुखवत् सातङ्कं भविष्यतीत्याशङ्कापनोदार्थमाह–अनातङ्कं, न विद्यते आतङ्कः प्रतिपक्षादिकृतश्चित्तक्षोभो यत्र। तथापि भोगभूमिजसुखवदल्पकालभोग्यं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–दीर्घकालोपलालितं दीर्घकालं सागरोपमपरिच्छिन्नकालं यावदुपलालितमाज्ञाविधेय–

१. सर्वमङ्गं व्याप्नोति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवदेवीस्वविलासिनीभिः[1] क्रियमाणोपचारत्वादुत्कर्षं प्रापितम्। तर्हि क्व केषामिव तदित्याह, नाके नाकौकसामिव स्वर्गे देवानां यथा अनन्योपममित्यर्थः। अत्र शिष्यः [3]प्रत्यवतिष्ठते–यदि स्वर्गेऽपि सुखमुत्कृष्टं किमपवर्गप्रार्थनयेति। भगवन् यदि स्वर्गेऽपि न केवलमपवर्गे सुखमस्ति। कीदृशम्? उत्कृष्टं मर्त्यादिसुखातिशायि तर्हि किं कार्यं ? कया, अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रार्थनयां-अपवर्गो मे भूयादित्यभिलाषेण।।५।।

एवं च संसारसुखे एव निर्बन्धं[5] कुर्वन्तं प्रबोध्यं[6] तत्सुखदुःखस्य भ्रान्तत्वप्रकाशनाय आचार्यः प्रबोधयति–

अर्थ–स्वर्ग में निवास करने वाले जीवों को स्वर्ग में वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्ग में रहने वालों (देवों) को हुआ करता है, अर्थात् स्वर्ग में रहने वाले देवों का ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है। वह सुख इन्द्रियों से पैदा होने वाला आतंक से रहित और दीर्घ काल तक बना रहने वाला होता है।

विशदार्थ–हे बालक! स्वर्ग में निवास करने वालों को न कि स्वर्ग में पैदा होने वाले एकेन्द्रियादि जीवों को। स्वर्ग में, न कि क्रीड़ादिक के वश से रमणीक पर्वतादिक में ऐसा सुख होता है, जो चाहने के अनन्तर ही अपने विषय को अनुभव करने वाली स्पर्शनादिक इन्द्रियों से सर्वांगीण हर्षके रूप में उत्पन्न हो जाता है। तथा जो आतंक (शत्रु आदिकों के द्वारा किये गये चित्तक्षोभ) से भी रहित होता है, अर्थात् वह सुख राज्यादिक के सुख के समान आतंक सहित नहीं होता है। वह सुख भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोड़े कालपर्यन्त भोगने में आने वाला भी नहीं है। वह तो उल्टा, सागरोपम कालतक, आज्ञा में रहने वाले देव देवियों के द्वारा की गई सेवाओं से समय–समय बढ़ा चढ़ा ही पाया जाता है।

'स्वर्ग में निवास करने वाले प्राणियों का (देवों को) सुख स्वर्गवासी देवों के समान ही हुआ करता है।' इस प्रकार से कहने या वर्णन करने का प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती है। लोक में भी जब किसी चीज की अति हो जाती है, तो उसके द्योतन करने के लिए ऐसा ही कथन किया जाता है, जैसे ''भैया! राम रावण का युद्ध तो राम रावण के युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।''

१. आदेशवशवर्ति। २. सेवा। ३. पूर्वपक्षं करोति। ४. हठम्। ५. शिष्यम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्, इस पंक्ति में युद्ध सम्बन्धी भयंकरताकी पराकाष्ठाको जैसा द्योतित किया गया है। ऐसा ही सुख के विषय में समझना चाहिये।।५।।

दोहा- **इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य।**
स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनही के योग्य ।।५।।

शंका-इस समाधान को सुन शिष्यको पुनः शंका हुई और वह कहने लगा-''भगवन्! न केवल मोक्ष में, किन्तु यदि स्वर्ग में भी, मनुष्यादिकों से बढ़कर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है, तो फिर ''मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जावे'' इस प्रकार की प्रार्थना करने से क्या लाभ?''

संसार सम्बन्धी सुख में ही सुख का आग्रह करने वाले शिष्य को 'संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भ्रान्त हैं।' यह बात बतलाने के लिये आचार्य आगे लिखा हुआ श्लोक कहते हैं-

वासनामात्रमेवैतत्, सुख दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि।।६।।

अन्वय-देहिनां सुख दुःखं च वासनामात्रम् एव। तथाहि, एते भोगा आपदि रोगा इव उद्वेजयन्ति।

टीका-एतत् प्रतीयमानमैन्द्रियकं सुखं दुःखं चास्ति। कीदृशं वासनामात्रमेव जीवस्योपकारकत्वापकारकत्वाभावेन परमार्थतो देवादावुपेक्षणीये[1] तत्त्वानवबोधादिदं ममेष्टमुपकारकत्वादिदं चानिष्टमपकारकत्वादिति विभ्रमाज्जातः संस्कारो वासना इष्टानिष्टार्थानुभवानन्तरमुद्भूतः स्वसंवेद्य आभिमानिकः परिणामः। वासनैव न स्वाभाविकमात्मस्वरुपमित्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थो मात्र इति स्वयोगव्यस्थापकश्चैवशब्दः। केषामेतदेवंभूतमस्तीत्याह। देहिनां देह एवात्मत्वेन गृह्यमाणोस्तीति देहिनो बहिरात्मानस्तेषाम्। एतदेव समर्थयितुमाह-तथाहीत्यादि। उक्तार्थसमर्थनार्थस्तथाहीति शब्दः। उद्वेजजयन्ति उद्वेगं कुर्वन्ति, न सुखयन्ति ते, एते सुखजनकत्वेन लोके प्रतीता भोगा रमणीयरमणीप्रमुखा इन्द्रियार्थाः। के इव, रोगा इव ज्वरादिव्याधयो यथा। कस्यां सत्याम्? आपदि दुर्निवारवैरिप्रभृतिसंपादितदौर्मनस्यलक्षणायां विपदि। तथा चोक्तम्-''मुञ्चाङ्गं ग्लपयस्थलं क्षिप कुतोप्यक्षांश्च विद्भात्यदो, दूरे धेहि न हृष्य एष किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम्। स्थेयं चेद्धि निरुद्ध गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्री क्षिपन्त्याश्लेषक्रमुकांगरागललितालापैर्विधित्सू रतिम्।।''अपि च ''रम्यं हर्म्यं चन्दनं चन्द्रपादा, वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः। नैते रम्या क्षुत्पिपासार्द्दितानां सर्वारम्भास्तन्दुलाः प्रस्थमूलाः।।''

---

१. त्यजनीये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा। आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन। सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यमित्यादि। अतो ज्ञायते ऐन्द्रियकं सुखं वासनामात्रमेव, नात्मनः स्वाभाविकमाकुलत्वस्वभावम्। कथमन्यथा लोके सुखजनकत्वेन प्रतीतानामपि भावनां दुःखहेतुत्वम्। एवं दुःखमपि। अत्राह पुनः शिष्यः-एते सुखदुःखे खलु वासनामात्रे, कथं न लक्ष्येते इति। खल्विति वाक्यालंकारे निश्चये वा। कथं केन प्रकारेण न लक्ष्येते न संवेद्येते, लोकरिति शेषः। शेषं स्पष्टम्।।६।।

अत्राचार्यः प्रबोधयति-

अर्थ-देहधारियों को जो सुख और दुःख होता है, वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो! जिन्हें लोकमें सुख पैदा करने वाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपत्ति (दुर्निवार, शत्रु आदिके द्वारा की गई बैचनी) के समय में रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियों को आकुलता पैदा करने वाले होते हैं। यही बात सांसारिक प्राणियों के सुख-दुःखके सम्बन्ध में है।

विशदार्थ-ये प्रतीत (मालूम) होने वाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं। देहादिक पदार्थ न जीवके उपकारक ही हैं और न अपकारक ही। अतः परमार्थ से वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं। किंतु तत्त्वज्ञान न होने के कारण-'यह मेरे लिये इष्ट है- उपकारक होने से' तथा 'यह मेरे लिये अनिष्ट है- अपकारक होने से।' ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार जिन्हें वासना भी कहते हैं-इस जीवके हुआ करते हैं। अतः ये सुख दुःख विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार मात्र ही हैं, स्वाभाविक नहीं। ये सुख दुःख उन्हीं को होते हैं जो देहको ही आत्मा माने रहते हैं। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है-मुंचांगं''

अर्थ-इस श्लोक में दम्पतियुगलक वार्तालापका उल्लेख कर यह बतलाया गया है कि 'वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मनके दुःखी होने पर बुरे मालूम होते हैं।' घटना इस प्रकार है-पति-पत्नी दोनों परस्पर में सुख मान, लेटे हुए थे कि पति किसी कारण से चिंतित हो गया। पत्नी पति से आलिंगन करने की इच्छा से अंगों को चलाने और रागयुक्त वचनालाप करने लगी। किन्तु पति जो कि चिंतित था कहने लगा ''मेरे अंगोंको छोड़, तू मुझे संताप पैदा करने वाली है। हट जा। तेरी इन क्रियाओं से मेरी छाती में पीड़ा होती है। दूर हो जा। मुझे तेरी चेष्टाओं से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिलकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है।'' ''रम्यं हर्म्यं''

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें (चाँदनी), वेणु, वीणा तथा यौवनवती युवतियाँ (स्त्रियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्यास से सताये हुए व्यक्ति यों को अच्छे नहीं लगते। ठीक भी है, अरे! सारे ठाटबाट सेरभर चाँवलों के रहने पर ही हो सकते हैं। अर्थात् पेटभर खाने के लिए यदि अन्न मौजूद है, तब तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है। अन्यथा (यदि भरपेट खाने को न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जाने वाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं। इसी तरह और भी कहा है-

''एक पक्षी (चिरबा) जो कि अपनी प्यारी चिरैया के साथ रह रहा था, उसे धूपमें रहते हुए भी संतोष और सुख मालूम देता था। रात के समय जब वह अपनी चिरैया से बिछुड़ गया, तब शीतल किरण वाले चन्द्रमा की किरणों को भी सहन (बरदाश्त) न कर सका। उसे चिरैयाके वियोग में चन्द्रमा की ठंडी किरणें सन्ताप व दुःख देने वाली ही प्रतीत होने लगीं। ठीक ही है, मनके दुःखी होने पर सभी कुछ असह्य हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता।''

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियों से पैदा होने वाला सुख वासनामात्र ही है। आत्मा का स्वाभाविक एवं अनाकुलतारुप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विभ्रमजन्य न होता तो संसार में जो पदार्थ सुखके पैदा करने वाले माने गये हैं वे ही दुःख के कारण कैसे हो जाते? अतः निष्कर्ष निकला कि देहधारियों का सुख केवल काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दुःख भी काल्पनिक है ॥६॥

दोहा- **विषयी सुख दुःख मानते, है अज्ञान प्रसाद।**
भोग रोगवत् कष्ट में तन मन करत विषाद॥६॥

शंका-ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि ''यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगों को उसी रुप में क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं? आचार्य समझाते हुए बोले-

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां, यथा मदनकोद्रवैः॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वय– हि मोहने संवृतं ज्ञानं तथैव स्वभावं न लभते यथा मदनकोद्रवैः मत्तः पुमान् पदार्थानां स्वभावं न लभते।

टीका–न हि नैव लभते परिच्छिनत्ति धातूनामनेकार्थत्वाल्लभेर्ज्ञानेपि वृत्तिस्तथा च लोको वक्ति यथास्य चित्तं लब्धमिति। किं तत् कर्तृ, ज्ञानं धर्मधर्मिणोः कथंचित्तादात्म्यादर्थग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा। कं, स्वभावं स्वोऽसाधारणो अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि [1]व्यक्त्यन्तरेभ्यो विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तप्रत्ययहेतुर्भावो धर्मःस्वभावस्तम्। केषाम्, पदार्थानां सुखदुः खशरीरादीनाम्। किंविशिष्टं सत् ज्ञानं, संवृत्तं प्रच्छादितं वस्तुयाथात्म्यप्रकाशने अभिभूतसामर्थ्यम्। केन, मोहेन मोहनीयकर्मणो विपाकेन। तथा चोक्त म्–''मलविद्धमणेर्व्यक्ति र्यथा नैकप्रकारतः। कर्म्मविद्धात्म-विज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः।। (लघीयस्त्रये)

नन्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्मणाभिभवो युक्त इत्यत्राह–मत्त इत्यादि। यथा नैव लभते। कोऽसौ, पुमान् व्यवहारी पुरुष। कं, पदार्थानां घटपटादीनां स्वभावम्। किंविशिष्ट सन्, मत्तः जनितमदः। कैर्मदनकोद्रवैः। पुनराचार्य एव प्राह, विराधक इत्यादि। यावत् स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति। शरीरादीनां स्वरुपमलभमानः पुरुषः शरीरादीनि अन्यथाभूतानि प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अमुमेवार्थं स्फुटयति–

अर्थ–मोहसे ढका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरुपको वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करने वाले कोद्रव (कोदों) के खाने से नशैल–बे-खबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक–ठीक रुप से नहीं जान पाता है।

विशदार्थ–मोहनीयकर्म के उदय से ढका हुआ ज्ञान वस्तुओं के यथार्थ (ठीक–ठीक) स्वरुप का प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दुःख,शरीर आदिक पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। परस्पर में मेल रहने पर भी किसी विवक्षित (खास) पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जतलाने के लिये कारणीभूत धर्म को (भावको) स्व असाधारण भाव कहते हैं। अर्थात् दो अथवा दो से अधिक अनेक पदार्थों के बीच मिले रहने पर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जान सके, उसी धर्म को उस पदार्थ का स्वभाव कहते हैं।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है–''मलविद्ध०''

''मल सहित मणिका प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकार से न होकर अनेक प्रकार से होता है, वैसे ही कर्म सम्बद्ध आत्मा का प्रतिभास भी एक रुप से न होकर अनेक रुप से होता है।''

१. विजातीयेभ्योऽन्यपदार्थेभ्यः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ पर किसी का प्रश्न है कि-

अमूर्त्त आत्मा का मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है?

उत्तरस्वरूप आचार्य कहते हैं कि-

''नशे को पैदा करने वाले कोद्रव-(कोदों) धान्यको खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभावको नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त्त है फिर भी मूर्तिमान् कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा मूर्त्तिनान् कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दबे जा सकते हैं।।७।।

शरीर आदिकों के स्वरूप को न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकों को किसी दूसरे रूप में ही मान बैठता है।

दोहा- **मोहकर्म के उदय से, वस्तुस्वभाव न पात।**
मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात।।७।।

इसी अर्थको आगे के श्लोक में स्पष्टरीत्या विवेचित करते हैं-

वपुर्गृहं धनं दाराः, पुत्राः मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि, मूढः स्वानि प्रपद्यते।।८।।

अन्वय-वपुःगृहं धनं दाराः पुत्राः मित्राणि शत्रवः सर्वथा अन्यस्वभावानि, किन्तु मूढः तानि स्वानि प्रपद्यते।

टीका-प्रपद्यते। कोसौ, मूढः स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान्। वपुर्गृहादीनि वस्तूनि। किंविशिष्टानि, स्वानि स्वश्चात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि। एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः। अयमर्थो, दृढ़तममोहविष्टो देहादिकमात्मानं प्रपद्यते। आत्मत्वेनाभ्युपगच्छति। दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीयत्वेन। किंविशिष्टानि सन्ति, स्वानि प्रपद्यत इत्याह। सर्वथान्यस्वभावानि सर्वेण द्रव्येक्षकालभावलक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्नः स्वभावो येषां तानि। किं किमित्याह। वपुः शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्धमस्ति। एवं गृहं धनं दाराः भार्याः पुत्राः आत्मजाः मित्राणि सुहृदः शत्रवोऽमित्रा। अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः। अत्रैतेषु वपुरादिषु मध्ये हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तमुद्दिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्त उदाहरणं प्रदर्श्यते। अस्माभिरिति शेषः। तद्यथा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ–यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री,पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभावको लिये हुए पर–अन्य हैं, परंतु मूढ प्राणी मोहनीयकर्म के जाल में फँसकर इन्हें आत्मा के समान मानता है।

विशदार्थ–स्व और परके विवेकज्ञान से रहित पुरुष शरीर आदिक पर पदार्थों को आत्मा व आत्मा के स्वरुप ही समझता रहता है। अर्थात् दृढ़तम मोहके वश प्राणी देहादिक को (जो कि द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव लक्षणरुप हरेक प्रकार से आत्म स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं) ही आत्मा मानता है और दृढतर मोहवाला प्राणी, उन्हीं व वैसे ही शरीरादिकको आत्मा नहीं, अपितु आत्मा के समान मानता रहता है।।८।।

दोहा- **पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ।**
बिल्कुल निजसे भिन्न हैं, मानत मूढ़ निजार्थ ।।८।।

उत्थानिका–शरीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान् प्राणी के द्वारा उपकारक एवं हितु समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं, इसको आगे श्लोक में उल्लिखित दृष्टांत द्वारा दिखाते हैं–

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे।।९।।

अन्वय–खगाः दिग्देशेभ्यः एत्यज नगे नगे संवसन्ति, प्रगे प्रगे स्वस्वकार्यवशात् देशे दिक्षु यान्ति।

टीका–संवसन्ति मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति। के ते, खगाः पक्षिणः। क्व क्व, नगे नगे वृक्षे वृक्षे। किं कृत्वा, एत्य आगत्य। केभ्यो, दिग्देशेभ्यः दिशः पूर्वादयो दश देशस्तत्स्थैकदेशो अङ्गवङ्गादयस्तेभ्योऽवधिकृतेभ्यः। तथा यान्ति गच्छन्ति। के ते, खगाः। कासु, दिक्षु दिग्देशेष्विति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्द्देशो गमननियमनिवृत्त्यर्थस्तेन यो यस्यामेव दिशि गच्छति यश्य यस्माद्देशादायातः स तस्मिन्नेव देशे गच्छतीति नास्ति नियमः। किं तर्हि, यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छन्तीत्यर्थः। कस्मात् स्वस्वकार्यवशात् निजनिजकरणीयपारतन्त्र्यात्[1]। कदा कदा, प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः। एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुःकालं यावत् संभूय तिष्ठन्ति तथा निजनिजपारतन्त्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुः कालान्ते गच्छन्तीनि प्रतीहि। कथं भद्र तव दारादिषु हितबुद्ध्या गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मात्मीयभावः? यदि खल्वेतदात्मका स्युः तदा त्वयि तदवस्थे एव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुः। यदि च एते तावकाः स्युस्तर्हि कथं क्व प्रयोगमन्तरेणैव

१. पराधीनतया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्र क्वापि प्रयान्तीति मोहग्रहावेशमपसार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टान्ते दर्शनीयम्। अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते अस्माभिरिति योज्यम्-

अर्थ-देखों, भिन्न-भिन्न दिशाओं व देशों से उड़कर आते हुए पक्षिगण वृक्षों पर आकर रैनबसेरा करते हैं और सबेरा होने पर अपने-अपने कार्य के वश से जुदा-जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं।

विशदार्थ-जैसे पूर्व आदिक दिशाओं एवं अंग,बंग आदि विभिन्न देशों से उड़कर पक्षिगण वृक्षों पर आ बैठते हैं, रात रहने तक वहीं बसेरा करते हैं और सबेरा होने पर अनियत दिशा व देश की ओर उड़ जाते हैं उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देश से आये हों उसी ओर जावें। वे तो कहीं से आते हैं और कहीं को चले जाते हैं-वैसे ही संसारी जीव भी नरकगत्यादिरुप स्थानों से आकर कुल में अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते हैं, और फिर अपने-अपने कर्मों के अनुसार, आयु के अंत में देवगत्यादि स्थानों में चले जाते हैं। हे भद्र! जब यह बात है तब हितरुप से समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाव वाले स्त्री आदिकों में तेरी आत्मा व आत्मीय बुद्धि कैसी? अरे! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरुप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरों को कैसे प्राप्त हो जाते? यदि ये तुम्हारे स्वरुप नहीं अपितु तुम्हारे होते तो प्रयोग के बिना ही ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते? अतः मोहनीय पिशाच के आवेशको दूर हटा ठीक ठीक देखने की चेष्टा कर।।९।।

दोहा- **दिशा देश से आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त।**
प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़न्त ।।९।।

उत्थानिका-आचार्य आगे के श्लोक में शत्रुओं के प्रति होने वाले भावों को 'ये हमारे शत्रु हैं' 'अहितकर्ता हैं' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, साथ ही ऐसे भावों को दूर करने के लिये प्रेरणा भी करते हैं-

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति।
त्र्यङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां, स्वयं दण्डेन पात्यते।।१०।।

अन्वय-विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति त्र्यङ्गुलं पद्भ्यां पातयन् दण्डेन स्वयं पात्यते।

टीका-कथमित्यरुचौ,न श्रद्दधे कथं परिकुप्यति समन्तात् कुप्यति। कोऽसौ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विराधकः अपकारकर्त्ता जनः। कस्मै, हन्त्रे जनाय प्रत्यपकारकाय लोकाय। ''सुखं वा यदि वा दुःखं, येन यश्चकृतं भुवि। अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः।।''

इत्यभिधानादन्याय्यमेतदिति[1] भावः। अत्र दृष्टान्तमाचष्टे। अङ्गुलमित्यादि। पात्यते भूभौ क्षिप्यते। कोऽसौ, यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी[2] जनः। केन, दण्डेन हस्तधार्यकाष्ठेन। कथं, स्वयं पात्यप्रेरणमन्तरेणैव। किं कुर्वन्, पातयन् भूमिं प्रति नामयन्। किं तत्, त्र्यङ्गुलं अङ्गुलित्रयाकारं कचाद्याकर्षणावयवम्। काभ्यां, पद्भ्यां पादाभ्यां ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता[3] न करणीया।

अत्र विनेयः पृच्छति। हिताहितयो रागद्वेषौ कुर्वन् किं कुरुते इति दारादिष रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः पुरुषः किमात्मनेहितं कार्यं करोति येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः। अत्राचार्यः समाधत्ते-

अर्थ-जिसने पहिले दूसरे को सताया या तकलीफ पहुँचाई है ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारने वाले के प्रति क्यों गुस्सा करता है? यह कुछ जँचता नहीं। अरे! जो त्र्यङ्गुलको पैरों से गिरायगा वह दंडेके द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा।

विशदार्थ-दूसरे का अपकार करने वाला मनुष्य, बदले में अपकार करने वाले के प्रति क्यों हर तरह से कुपित होता है? कुछ समझ में नहीं आता।

भाई! सुनिश्चित रीति या पद्धति यही है कि संसार में जो किसी को सुख या दुःख पहुँचाता है, वह उसके द्वारा सुख और दुःख को प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दूसरे को दुःख पहुँचाया है तो बदले में तुम्हें भी उसके द्वारा दुःख मिलना ही चाहिये। इसमें गुस्सा करने की क्या बात है? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जो बिना विचारे काम करने वाला पुरुष है वह तीन अंगुली के आकार वाले कूड़ा कचरा आदिके समेटने के काम में आने वाले 'अंगुल' नामक यंत्रको पैरों से जीमन पर गिराता है तो वह बिना किसी अन्यकी प्रेरणा के स्वयं ही हाथ में पकड़े हुए डंडे से गिरा दिया जाता है। इसलिये अहित करने वाले व्यक्तिके प्रति, अपना हित चाहने वाले बुद्धिमानों को, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये।।१०।।

दोहा- **अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध।**
दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अबोध।।१०।।

१. अयुक्तं। २. अविचार्यकार्यकर्त्ता। ३. पण्डितेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकों में राग और शत्रुओं में द्वेष करने वाला पुरुष, अपना क्या अहित–बिगाड़ करता है? जिससे उनको (राग–द्वेषों को) अकरणीय–न करने लायक बतलाया जाता है? आचार्य समाधान करते हैं–

रागद्वेषद्वयीदीर्घ–नेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

अन्वय–असौ जीवः अज्ञानात् रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा संसाराब्धौ सुचिरं भ्रमति।

टीका–भ्रमति संसरति। कोऽसौ, असौ जीवश्चेतनः। क्व, संसाराब्धौ संसारःद्रव्यपरिवर्तनादिरुपो भवोऽब्धि समुद्र इव दुःखहेतुत्वाद् दुस्तरत्त्वाच्च तस्मिन्। कस्मात्, अज्ञानात् देहादिष्वात्मविभ्रमात्। कियत्कालं, सुचिरं अतिदीर्घकालम्। केन, रागेत्यादि। राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी। रागद्वेषयोः शक्ति व्यक्ति रुपतया युगपत् प्रवृत्तिज्ञापनार्थं द्वयीग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं। तथा चोक्तम्–(ज्ञानार्णवे)

''यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
उभावेतौ समालम्ब्य, विक्रमत्यधिकं मनः॥''

अपि च। आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ। अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायन्ते। सा दीर्घनेत्रायतमन्थाकर्षणपाश इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्यापकर्षणकर्मजीवस्य रागादिरुपतया परिणमनं नेत्रस्यापकर्षण–त्वाभिमुखानयनंतेन अत्रोपमानभूतोमन्थदण्डआक्षेप्यस्तेन यथा नेत्राकर्षणव्यापारेमन्थाचलः समुद्रे सुचिरं भ्रान्तो लोके प्रसिद्धस्तथा स्वपरविवेकानवबोधात् यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचारात्तज्जनितकर्मबन्धेन संसारस्थो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रान्तो भ्रमति भ्रमिष्यति। भ्रमतीत्यवतिष्ठन्ते पर्वता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लट[1] विधानात्। उक्तं च।

''जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो हवदि गदि सु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा'' ॥१३०॥

–पंचास्तिकाय २.।

---

१. वर्तमानात्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुङ्क्ते[१]। तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष इति भगवन् संसारेपि, न केवलं मोक्ष इत्यपिशब्दार्थः। चेज्जीवः सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को न कश्चित् दोषो दुष्टत्वं संसार स्य सर्वेषां सुखस्यैव आप्तुमिष्टत्वात् येन संसारच्छेदाय सन्तो यतेरन्नित्यत्राह। वत्स!

अर्थ–यह जीव अज्ञान से रागद्वेषरुपी दो लम्बी डोरियों की खीचतानी से संसार रुपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है–परिवर्तन करता रहता है।

विशदार्थ–द्रव्य,क्षेत्र, काल,भव, भावरुप पंचपरावर्तनरुप संसार जिसे दुःख का कारण और दुस्तर होने से समुद्र के समान कहा गया है, उसमें अज्ञान से–शरीरादिकों में आत्मभ्रांति से–अतिदीर्घ काल तक घूमता (चक्कर काटता) रहता है। इष्ट वस्तु में प्रीति होने को राग और अनिष्ट वस्तु में अप्रीति होने को द्वेष कहते हैं। उनकी शक्ति और व्यक्तिरुप से हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसलिये आचार्यों ने इन दोनों की जोड़ी बतलाई है। बाकी के दोष इस जोड़ी में ही शामिल हैं, जैसा कि कहा गया है–''यत्र रागः पदं धत्ते०''

''जहाँ राग अपना पाँव जमाता है, वहाँ द्वेष अवश्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनों (राग–द्वेष) के आलम्बन से मन अधिक चंचल हो उठता है। और जितने दोष हैं, वे सब राग–द्वेष से संबद्ध हैं,'' जैसा कि कहा गया है–''आत्मनि सति परसंज्ञा०''

''निजत्व के होने पर परका ख्याल हो जाता और जहाँ निज–परका विभाग (भेद) हुआ वहाँ निजमें रागरुप और परमें द्वेषरुप भाव हो ही जाते हैं। बस इन दोनों के होने से अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते हैं। कारण कि वे सब इन दोनों के ही आश्रित हैं।''

वह राग–द्वेषकी जोड़ी तो हुई मंथानी के डंडे को घुमाने वाली रस्सी के फाँसा के समान और उसका घूमना कहलाया जीवका रागादिरुप परिणमन। सो जैसे लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरी के खींचा–तानी से जैसे मंथराचल पर्वतको समुद्र में बहुत काल तक भ्रमण करना पड़ा। उसी तरह स्वपर विवेकज्ञान न होने से रागादि परिणामों के द्वारा जीवात्मा अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से, रागादि परिणाम जनित कर्मबंध के द्वारा बँधा हुआ संसारी जीव, अनादिकाल से संसार में घूम रहा है, घूमा था और

१. शिष्यः पृच्छति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घूमता रहेगा। मतलब यह है कि 'रागादि परिणामरुप भावकर्मों से द्रव्यकर्मों का बन्ध होता' ऐसा हमेशा से चला आ रहा है और हमेशा तक चलता रहेगा। सम्भव है कि किसी जीवके यह रुक भी जाय। जैसा कि कहा गया है-''जो खलु संसारत्थो०''

''जो संसार में रहने वाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेष आदिरुप परिणमन) होता है, उस परिणाम से कर्म बँधते हैं। बँधे हुए कर्मों के उदय होने से मनुष्यादि गतियों में गमन होता है, मनुष्यादि गति में प्राप्त होने वाले को (औदारिक आदि) शरीर का जन्म होता है, शरीर होने से इंद्रियों की रचना होती है, इन इंद्रियों से विषयों (रुप रसादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और द्वेष होने लग जाते हैं। इस प्रकार जीवका संसार रुपी चक्रवाल में भवपरिणमन होता रहता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। जो अनादिकाल से होते हुए अनन्तकाल तक होता रहेगा, हाँ, किन्हीं भव्यजीवों के उसका अन्त भी हो जाता है।'' ॥११॥

दोहा- **मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार।**
राग द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार ॥११॥

उत्थानिका-यहाँ पर शिष्य पूछता है कि स्वामिन्! माना कि मोक्ष में जीव सुखी रहता है। किन्तु संसार में भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है?-कारण कि संसार के सभी प्राणी सुखको ही प्राप्त करना चाहते हैं। जब जीव संसार में ही सुखी हो जायँ तो फिर संसार में ऐसी क्या खराबी है? जिससे कि संत पुरुष उसके नाश करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं? इस विषय में आचार्य कहते हैं-हे वत्स-

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिबाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः॥१२॥

अन्वय-यावत् भवपदावर्ते पदिका इव विपत् अतिबाह्यते तावत् अन्याःप्रचुराः विपदः पुरः भवन्ति।

टीका-यावदतिबाह्यते अतिक्रम्यते। प्रेर्यते। कासौ, विपत् सहजशारीर-मानसागन्तुकानामापदां मध्ये या काप्येका विवक्षिता आपत्। जीवेनेति शेषः। क्व, भवपदावर्ते भवः संसारः पदावर्त इव पादचाल्यघटीयन्त्रमिव भूयोभूयः परिवर्त्तमानत्वात्। केव, पदिकेव[1] पादाक्रान्तदण्डिका यथा तावद्भवन्ति। का, अन्या

१. आकस्मिकागत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपूर्वाः प्रचुरा बह्वो विपदः आपदः पुरो अग्रे जीवस्य यदि। का इव, काछिकस्येति सामर्थ्यदुर्व्यां। अतो जानीहि दुःखैकनिबन्धनविपत्तिनिरन्तरत्वात् संसार अवश्यविनाश्यत्त्वम्।

पुनः शिष्य एवाह। न सर्वे विपद्वन्तः ससंपदोपि दृश्यन्त इति भगवन् समस्ता अपि संसारिणो न विपत्तियुक्तः सन्ति सश्रीकाणामपि केषांचिद् दृश्यमान–त्वादित्यत्राह-

अर्थ–जबतक संसार रुपी पैर से चलाये जाने वाले घटीयंत्र में एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है कि उसी समय दूसरी-दूसरी बहुतसी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती हैं।

विशदार्थ–पैर से चलाये जाने वाले घटीयंत्रको[1] पदावर्त कहते हैं, क्योंकि उसमें बार–बार परिवर्तन होता रहता है। सो जैसे उसमें पैर से दबाई गई लकड़ी या पटली के व्यतीत हो जाने के बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती हैं, उसी तरह संसार रुपी पदावर्त में एक विपत्ति के बाद दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ जीवके सामने आ खड़ी होती हैं।

इसलिये समझो कि एकमात्र दुःखों की कारणीभूत विपत्तियों का कभी भी अन्तर न पड़ने के कारण यह संसार अवश्य ही विनाश करने योग्य है। अर्थात् इसका अवश्य नाश करना चाहिए ।।१२।।

दोहा- **जब तक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय।**
पदिका जिमि घटियंत्र में, बार–बार भरमाय।।१२।।

फिर शिष्यका कहना है कि, भगवन्! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नहीं हैं, बहुत से सम्पत्ति वाले भी दीखने में आते हैं। इसके विषय में आचार्य कहते हैं-

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण, नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिषा।।१३।।

अन्वयः- ज्वरवान् सर्पिषा इव कोऽपि जनः दुरर्ज्येन असुरक्ष्येण धनादिना स्वस्थंमन्यः (भवति)।

टीका–भवति। कोसौ, जनो लोकः। किंविशिष्टः, कोपि निर्विवेको न सर्वः। किंविशिष्टो भवति, स्वस्थंमन्यः स्वस्थमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः। केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन। किंविशिष्टेन, दुरर्ज्येन

१. एक यंत्रविशेष जो पानी उलीचने के काम आता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपायबहुलत्वात् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनार्जित इति दुरर्ज्येने तथा असुरक्ष्येण दुस्त्राणेन यत्ततो रक्ष्यमाणस्याप्यपायस्यावश्यंभावित्वात्। तथा नश्वरेण रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्वतेन। अत्र दृष्टान्तमाह। ज्वरेत्यादि। इस शब्दो यथार्थे यथा कोऽपि मुग्धो ज्वरवान् अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वरार्तः सर्पिषा घृतेन पानाद्युपयुक्तेन स्वस्थंमन्यो भवति। निरामयमात्मानं मन्यते ततो बुद्ध्यस्व दुरुपार्ज्यदूरक्षणभङ्गुरद्रव्यादिना दुःखमेव स्यात्। उक्तंच–

''अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखे व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम्॥''

''भूयोपि विनेयः पृच्छति।'' एवंविधां संपदां कथं न त्यजतीति। अनेन दुरर्जत्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदां धनादिसंपत्तिं कथं मुञ्चति न जनः। कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने। अत्र गुरुरुत्तरमाह–

अर्थ–जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घी को खाकर या चिपड़ कर अपने को स्वस्थ मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसे धन आदि कों से अपने को सुखी मानने लग जाता है।

विशदार्थ–जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आने वाले बुखार) से पीड़ित होता है, वह बुद्धि के ठिकाने न रहने से–बुद्धि के बिगड़ जाने से घी को खाकर या उसकी मालिश कर लेने से अपने आपको स्वस्थ–नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई–कोई (सभी नहीं) धन, दौलत, स्त्री आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जाने वाले हैं–ऐसे इष्ट वस्तुओं में अपने आपकों 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो मुश्किलों से पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा बड़ी कठिनाई से होती है, तथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकों से दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है–''अर्थस्योपार्जने दुःखं०''

'धन के कमाने में दुःख, उसकी रक्षा करने में दुःख, उसके जाने में दुःख, इस तरह हर हालत में दुःख के कारण रुप धन को धिक्कर हो।'

दोहा- **कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि।**
इनसे सुखकी कल्पना, जिमि घृतसे ज्वर व्याधि॥१३॥

शंका–फिर भी शिष्य पूछता है कि बड़े आश्चर्यकी बात है कि जब 'मुश्किलों से कमायी जाती' आदि हेतुओं से धनादिक सम्पत्ति दोनों लोकों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःख देने वाली है, तब ऐसी सम्पत्ति को लोग छोड़ क्यों नहीं देते? आचार्य उत्तर देते हैं–

विपत्तिमात्मनो मूढः, परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥१४॥

अन्वय–दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् मूढः परेषामिव आत्मनो विपत्तिं नेक्षते।

टीका–नेक्षते न पश्यति। कोऽसौ, मूढो धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः। कां, विपत्तिं चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदां। कस्य, आत्मनः स्वस्य। केषामिव, परेषामिव। यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाहमप्याक्रन्तव्य इति न विवेचयतीत्यथेः। क इव, प्रदह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यान्तरे मध्ये वर्तमानं। स तरुं वृक्षमारुढो जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्तिं न पश्यति।

पुनराह शिष्यः कुत एतदिति, भगवन् कस्माद्धेतोरिदं सन्निहिताया अपि विपदो अदर्शनं जनस्य। गुरुराह। लोभादिति, वत्स धनादिगार्ध्यात्पुरोवर्त्तिनीमप्यापदं[1] धनिनो न पश्यन्ति ॥१४॥ यतः–

अर्थ–जिसमें अनेकों हिरण दावानलकी ज्वाला से जल रहे हैं, ऐसे जंगल के मध्य में वृक्षपर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आने वाली विपत्तियों का ख्याल नहीं करता है।

विशदार्थ–धनादिक में आसक्तिहोने के कारण जिसका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ़ प्राणी चोरादिक के द्वारा की जाने वाली, धनादिक चुराये जाने आदि रूप अपनी आपत्ति को नहीं देखता है, अर्थात् वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग विपत्तियों के शिकार होते हैं, उसी तरह मैं भी विपत्तियों का शिकार बन सकता हूँ। इस वन में लगी हुई यह आग इस वृक्षको और मुझे भी जला देगी। जैसे ज्वालानलकी ज्वालाओं से जहाँ अनेक मृगगण झुलस रहे हैं–जल रहे हैं, उसी वन के मध्य में मौजूद वृक्ष के ऊपर चढ़ा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घबरा रहे हैं–छटपटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं, इन विपत्तियों का मुझ से कोई संबंध नहीं है, मैं तो सुरक्षित हूँ। विपत्तियों का सम्बंध दूसरों की सम्पत्तियों से है, मेरी सम्पत्तियों से नहीं है॥१४॥

१. अग्रतः स्थितामपि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोहा- **परकी विपदा देखता, अपनी देखे नाहिं।**
जलते पशु जा वन विषैं, जड़ तरुपर ठहराहिं ॥१४॥

फिर भी शिष्यका कहना है कि हे भगवन्! क्या कारण है कि लोगों को निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देतीं? आचार्य जवाब देते हैं- ''लोभात्'' लोभ के कारण' हे वत्स! धनादिककी गृद्धता-आसक्ति से धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्ति को नहीं देखते हैं, कारण कि-

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम्॥१५॥

अन्वय-आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कालस्य निर्गमं वाञ्छतां धनिनां जीविताद् धनं सुतरां इष्टम्।

टीका-वर्त्तते। किं तद्धनं। किंविशिष्टं, इष्टमभिमतं। कथं, सुतरां अतिशयेन कस्माज्जीवितात्प्राणेभ्यः। केषां, धनिनां। किं कुर्वतां, वाञ्छतां। कं, निर्गमं अतिशयेन गमनं। कस्य, कालस्य। किंविशिष्टं, आयुरित्यादि। आयुःक्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालान्तरवर्द्धनस्य कारणम्। अथमर्थो, धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वाञ्छन्ति। अतो धिग्धनम् एवंविधव्यामोहहेतुत्वात्॥१५॥

अत्राह शिष्यः। कथं धनं निन्द्यं येन पुण्यमुपार्ज्यते इति पात्रदानदेवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात् पुण्यसाधनं धनं कथं निन्द्यं, किं तर्हि प्रशस्यमेवार्ता यथाकथंचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयमित्यत्राह-

अर्थ-कालका व्यतीत होना, आयु के क्षयका कारण है और कालान्तर के माफिक ब्याज के बढ़ने का कारण है, ऐसे काल के व्यतीत होने को जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवन से धन ज्यादा इष्ट है।

विशदार्थ-मतलब यह है कि धनिकों को अपना जीवन उतना इष्ट नहीं, जितना कि धन। धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही ब्याजकी आमदनी बढ़ जायगी। वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायगी। वह धनवृद्धि के ख्याल में जीवन (आयु) विनाश की ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं देता। इसलिये मालूम होता है कि धनिकों को जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है। इस प्रकार के व्यामोहका कारण होने से धनको धिक्कार है।॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोहा- आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान।
चाहत हैं धनवान धन, प्राणनिते अधिकान॥१५॥

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि धन जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है, वह निंद्य-निंदाके योग्य क्यों है? पात्रों को दान देना, देवकी पूजा करना, आदि क्रियायें पुण्यकी कारण हैं, वे सब धनके बिना हो नहीं सकतीं। इसलिये पुण्यका साधनरुप धन निंद्य क्यों? वह तो प्रशंसनीय ही है। इसलिये जैसे बने वैसे धनको कमाकर पात्रादिकों में देकर सुखके लिये पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषय में आचार्य कहते हैं-

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति॥१६॥

अन्वय-यः अवित्तः श्रेय से त्यागाय वित्तं संचिनोति स ''स्नास्यामि'' इति स्वशरीरं पङ्केन विलिम्पति।

टीका-योऽवित्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति। किं तद्वित्तं धनं। कस्मै, त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं, त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात्। कस्मै त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय। यस्य तु चक्रवर्त्यादिरिवायत्नेन धनं सिध्यति स तेन श्रेयोऽर्थं पात्रदानादिकमपि करोत्विति भावः। स किं करोतीत्याह-विलिम्पति विलेपनं करोति। कोऽसौ, सः। किं तत्स्वशरीरं। केन, पङ्केन कर्दमेन। कथं कृत्वेत्याह। स्नास्यामीति। अयमर्थो, यथा कश्चिन्निर्मलाङ्गं स्नानं करिष्यामीति पङ्केन विलिम्पन्नसमीक्षकारी[1] तथा पापेन धनमुपार्ज्य पात्रदानादिपुण्येन क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि। न च शुद्धवृत्त्या कस्यापि धनार्जनं संभवति। तथा चोक्तम्-

''शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते, सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः, कदाचिदपि सिन्धवः'' ॥४५॥-आत्मानुशासनं

पुनराह शिष्यः भोगोपभोगायेति। भगवन् यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःख हेतुर्वा धनं निंद्यं तर्हि धनं विना सुखहेतोर्भोगोपभोगस्यासंभवात्तदर्थं धनं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति। भोगो भोजनताम्बूलादिः। उपभोगो वस्तुकामिन्यादिः। भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै। अत्राह गुरुः। तदपि नेति न केवलं पुण्यहेतुतया धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात्। किं तर्हि भोगोपभोगार्थं तत्साधनं प्रशस्यमिति। यत्त्वया संप्रत्युच्यते तदपि न स्यात्। कुत इति चेत्, यतः॥१६॥

अर्थ-जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसलिये दान करने के लिये धन

१. अविचारितकार्यकारी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़से लपेटता है।

विशदार्थ–जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पापकी हानि होगी, इसलिए पात्रदानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये',नौकरी, खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह मूढ़ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धनकी प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसी को भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासन में कहा है–''शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते०''

अर्थ–''सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखों, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गँदले पानी से भी भरी रहती हैं'' ॥१६॥

दोहा– **पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय।**
स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय॥१६॥

उत्थानिका–फिर शिष्य कहता है कि भगवन्! धनके कमाने में यदि ज्यादातर पाप होता है, और दुःख का कारण होने से धन निंद्य है, तो धनके बिना भोग और उपभोग भी नहीं हो सकते, इसलिये उनके लिये धन होना ही चाहिये, और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिये। इस विषय में आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है' अर्थात् 'पुण्य का कारण होने से धन प्रशंसनीय हैं', यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं,यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'भोग और उपभोग के लिये धन साधन है', यह जो तुम कह रहे हो, सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों? तो उसके लिये कहते हैं–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरम्भे तापकान्प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान्, कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

अन्वय– आरम्भे तापकान् प्राप्तौ अतृप्तिप्रतिपादकान् अन्ते सुदुस्त्यजान् कः सुधीः कामं सेवते।

टीका–को, न कश्चित् सुधीर्विद्वान् सेवते इन्द्रियप्रणालिकयानुभवति। कान्, भोगोपभोगान्।

उक्तं च–

''तदात्वे सुखसंज्ञेषु, भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमवानुरुध्यन्ते, प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ।।''

कथंभूतान्, तापकान् देहेन्द्रियमनः क्लेशहेतून्। क्व, आरम्भे उत्पत्त्युपक्रमे। अन्नादिभोग्यद्रव्य–संपादनस्य कृष्यादिक्लेशबहुलताया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात। तर्हि किम् भुज्यमानाः कामाः सुखहेतवः संभूतिसेव्यास्ते इत्याह, प्राप्तावित्यादि। प्राप्तौ इन्द्रियेण संबन्धे सति अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान्। उक्तंच– ज्ञानार्णवे।

''अपि संकल्पिताः कामाः, संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां, तृष्णा विश्वं विसर्पति ।।''

तर्हि यथेष्टं भुक्त्वा तृप्तेषु तेषु तृष्णा संतापः साम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह। अन्ते सुदुस्त्यजान् भुक्ति प्रान्ते त्यक्तुमशक्यकान्। सुभुक्ते ष्वपि तेषु मनोव्यतिषङ्गस्य दुर्निवारत्वात्। उक्तं च– चन्द्रप्रभचरिते।

''दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि, तृप्येदुदधिर्नदीशतैः।
न तु कामसुखैः पुमानहो, बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ।। अपि च–
किमपीदं विषयमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमनुभूय मनोभवे भवे नैव चेतयते ।।'' ।।४४।।

–अनगारधर्मामृते षष्ठोऽध्यायः।

ननु तत्त्वविदोपि भोगानभुक्तवन्तो न श्रूयन्त इति कामान् कः सेवते सुधीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह। काममिति। अत्यर्थं। इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेयरुपतया कामान्पश्यन्नेव सेवते। मन्दीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञानवैराग्यभावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत्त एव। तथा चोक्तम्–

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो व्ययोयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम। अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ।।

– ज्ञानार्णवे पृ० ७६, –सागारधर्मामृते पृ० १०।

किंच यदर्थमेतदेवंविधमिति। भद्र यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तुं प्रार्थ्यते तद्वक्ष्यमाणलक्षणमित्यर्थः। स एवंविध इति पाठः तद्यथा–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ–आरम्भ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करने वाले तथा अन्त में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान्–समझदार–ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा?

विशदार्थ– भोगोपभोग कमाये जाने के समय, शरीर, इन्द्रिय और मनको क्लेश पहुँचाने का कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना आदि दुः सह क्लेश हुआ करते हैं। कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुखके कारण होते हैं! इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति यानी बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है:–''अपि संकल्पिताः कामाः०''

''ज्यों ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग, प्राप्त होते जाते हैं, त्यों त्यों मनुष्यों की तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोक में फैलती जाती है। मनुष्य चाहता है, कि अमुक मिले। उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है, कि अमुक और मिल जाय। उसके भी मिल जाने पर मनुष्य की तृष्णा विश्वके समस्त ही पदार्थों को चाहने लग जाती है कि वे सब ही मुझे मिल जायँ। परन्तु यदि यथेष्ट भोगोपभोगों को भोगकर तृप्त हो जाय तब तो तृष्णारुपी सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा! इसलिये वे सेवन करने योग्य हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेने पर अन्त में छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग लेने पर भी मनकी आसक्तिनहीं हटती,'' जैसा कि कहा भी है–

''दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि०''

''यद्यपि अग्नि, घास, लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय, परंतु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबर्दस्ती है।'' और भी कहा है:–''किमपीदं विषयमयं०''

''अहो! यह विषयमयी विष कैसा गजबका विष है कि जिसे जबर्दस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भवमें नहीं चेत पाता है।''

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्त में क्लेश–तृष्णा एवं आसक्ति के कारणभूत इन भोगोपभोगों को कौन बुद्धिमान् इंद्रियरुपी नलियों से अनुभवन करेगा? कोई भी नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो यह बात सुनने में नहीं आती है। अर्थात् बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है,यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगों को कौन बुद्धिमान-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा?' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय? इस बात पर कैसे श्रद्धान किया जाय? आचार्य जवाब देते हैं-कि हमने उपर्युक्त कथन के साथ ''कामं अत्यर्थं०'' आसक्ति के साथ रुचिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। तात्पर्य यह है कि चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने के लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगों को त्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं। और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है, वह ज्ञान-वैराग्यकी भावना से इन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों को वश में कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करने के लिये कटिबद्ध-तैयार हो जाता है-जैसा कि कहा गया है-''इदं फलमियं क्रिया०''

''यह फल है, यह क्रिया है,यह करण है, यह क्रम-सिलसिला है, यह खर्च है, यह आनुषंगिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातों पर ख्याल देते हुए बुद्धिमान् पुरुष प्रयत्न किया करता है। मूर्ख ऐसा नहीं करता।'' ॥१७॥

दोहा- **भोगार्जन दुःखद महा, भोगत तृष्णा बाढ़।**
अंत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ़॥१७॥

उत्थानिका-आचार्य फिर और भी कहते हैं कि जिस (काय) के लिये सब कुछ (भोगोपभोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे बताया जाता है-

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

अन्वय-यत्सङ्गं प्राप्यशुचीन्यपि अशुचीनि भवन्ति स कायः संततापायः तदर्थं प्रार्थना वृथा।

टीका-वर्तते। कोऽसौ, सः कायः शरीरं। किं विशिष्टः, संततापायः नित्यक्षुधाद्युपतापः। स क इत्याह। यत्सङ्गम् येन कायेन सह संबन्धं प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्राण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्तून्यशुचीनि भवन्ति यतश्चैवं ततस्तदर्थं तं संततापायं कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकाङ्क्षा वृथा व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे क्षणे परापरापायोपनिपातसम्भवात्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
5308

पुनरप्याह शिष्यः-तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति। भगवन् संततापायतया कायस्य धनादिना यद्युपकारो न स्यात्तर्हि धनादिनापि न केवलमनशनादितपश्चरणेनेत्यपि शब्दार्थः। आत्मनो जीवनस्योकारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः। गुरुराह तन्नेति। यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यंते तन्नास्ति।।१८।। यतः-

अर्थ-जिसके सम्बंधको पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, झंझटों, विघ्नों, एवं विनाशों कर सहित है, अतः उसको भोगोपभोगों को चाहना व्यर्थ है!

विशदार्थ-जिस शरीर के साथ संबन्ध करके पवित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक पदार्थ अपवित्र घिनावने हो जाते हैं, ऐसा वह शरीर हमेशा भूख प्यास आदि संतापों कर सहित है। जब वह ऐसा है तब उसको पवित्र अच्छे-अच्छे पदार्थों से भला बनाने के लिये आकांक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपाय से यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया जाय तो क्षण-क्षण में दूसरे-दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते हैं।।१८।।

दोहा- **शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जाँच।**
विघ्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय ॥१८॥

उत्थानिका-फिर भी शिष्यका कहना है कि भगवन् काय के हमेशा अपायवाले होने से यदि धनादिक के द्वारा काय का उपकार नहीं हो सकता, तो आत्मा का उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्या से ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थों से भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है। कारण कि-

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥१९॥

अन्वय-यत् जीवस्य उपकाराय तद् देहस्य अपकारकं भवति, तथा यद् देहस्य उपकाराय तत् जीवस्य अपकारकं भवति।

टीका-यदनशनादि तपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षपण-निवारणाभ्यामुपकाराय स्यात्तद्देहस्यापकारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात्। यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्योपार्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतिः दुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीति जीवस्य धनादिना नोपकारगन्धोऽप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारत्वात्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्राह शिष्यः। तर्हि कायस्योपकारश्चिन्त्यते इति भगवन् यद्येवं तर्हि ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' इत्यभिधानात्तस्यापायनिरासाय[1] यत्नः क्रियते। न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यम्। ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात्।।१९।।

तथा चोक्तम्-

''यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितस्यापि, ध्यानमेवाग्रकारणम् ।।''२१७।। -तत्त्वानुशासनं

झाणस्य ण दुल्लहं किमपीति च-अत्र गुरुः प्रतिषेधमाह तन्नेति। ध्यानेन कायस्योपकारो न चिन्त्य इत्यर्थः।

अर्थ-जो जीव (आत्मा) का उपकार करने वाले होते हैं, वे शरीर का अपकार (बुरा) करने वाले होते हैं। जो चीजें शरीर का हित या उपकार करने वाली होती हैं, वही चीजें आत्मा का अहित करने वाली होती हैं।

विशदार्थ-देखो जो अनशनादि तपका अनुष्ठान करना, जीवके पुराने व नवीन पापों को नाश करने वाला होने के कारण, जीव के लिये उपकारक है,उसकी भलाई करने वाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीर में ग्लानि शिथिलतादि भावों को कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है,उसे कष्ट व हानि पहुँचाने वाला है। और जो धनादिक हैं, वे भोजनादिक के उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ाओं को दूर करने में सहायक होते हैं। अतः वे शरीर के उपकारक हैं। किन्तु उसी धनका अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। व पापपूर्वक होने से दुर्गति के दुःखों की प्राप्ति के लिये कारणीभूत है। अतः वह जीवका अहित या बुरा करने वाला है। इसलिये यह समझ रक्खो कि धनादिक के द्वारा जीवका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। उसका उपकारक तो धर्म ही है। उसी का अनुष्ठान करना चाहिये।

दोहा- आतम हित जो करत है, सो तनको अपकार।
जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार ।।१९।।

अथवा काय का हित सोचा जाता है, अर्थात् काय के द्वारा होने वाले उपकार का विचार किया जाता है। देखिये कहा जाता है कि ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' शरीर धर्म-सेवन का मुख्य साधन-सहारा है। इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते हैं, तो उनके दूर करने के लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं। काय के रोगादिक अपायों का दूर किया जाना मुश्किल भी नहीं

१.रोगाद्युपविनाशे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, कारण कि ध्यान के द्वारा वह (रोगादिक का दूर किया जाना) आसानी से कर दिया जाता है, जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है-''यत्रादिकं फलं किंचिच्०'' ॥१९॥

जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलों का प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि ''झाणस्स ण दुल्लहं किमपीति च'' ध्यान के लिये कोई भी व कुछ भी दुर्लभ नहीं है, ध्यान से सब कुछ मिल सकता है। इस विषय में आचार्य निषेध करते हैं, कि ध्यान के द्वारा काय का उपकार नहीं चिंतवन करना चाहिये-

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य, इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये, क्वाद्रियन्तां विवेकिनः ॥२०॥

अन्वय-इतो दिव्यश्चिन्तामणिः इतश्च पिण्याकखण्डकम् चेत् ध्यानेन उभे लभ्ये, विवेकिनः क्व आद्रियन्ताम्।

टीका-अस्ति। कोऽसौ, चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदो रत्नविशेषः। किंविशिष्टो, दिव्यो देवेनाधिष्ठितः। क्व, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे। इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुत्सितमल्पं वा खलखण्डकमस्ति। एते च उभे द्वे अपि यदि ध्यानेन लभ्येते। अवश्यं लभ्तर्हि कथय क्व द्वयोर्मध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियन्ताम् आदरं कुर्वन्तु। तदैहिकफलाभिलाषं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्ध्यर्थमेवात्मा ध्यातव्यः। उक्तंच-

''यद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा, यदैहिकफलार्थिनाम्।
तस्मादेतत्परित्यज्य, धर्म्यं शुल्कमुपास्यताम् ॥२२०॥-तत्त्वानुशासनं

अथैवमुद्बोधितश्रद्धानो विनेयः पृच्छति, स आत्मा कीदृश इति यो युष्माभिर्ध्यातव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किं-स्वरुप इत्यर्थः। गुरुराह- ॥२०॥

अर्थ-इसी ध्यान से दिव्य चिंतामणि मिल सकता है, इसी से खलीके टुकड़े भी मिल सकते हैं। जब कि ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदर बुद्धि करेंगे?

विशदार्थ-एक तरफ तो देवाधिष्ठित चिन्तित अर्थको देनेवाला चिन्तामणि और दूसरी ओर बुरा व छोटा सा खलीका टुकड़ा, ये दोनों भी यदि ध्यान के द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनों में से किसकी ओर विवेकी लोभ के नाश करने के विचार करने में चतुर-पुरुष आदर करेंगे? इसलिये इस लोक सम्बन्धी फल काय की नीरोगता आदि की अभिलाषा को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़कर परलोक सम्बन्धी फल की सिद्धि–प्राप्ति के लिये ही आत्मा का ध्यान करना चाहिये। कहा भी है कि, ''यद् ध्यानं रौद्रमार्तं वा०'' ।।२०।।

''वह सब रौद्रध्यान या आर्त्तध्यान है, जो इस लोक सम्बन्धी फल के चाहने वाले को होता है। इसलिये रौद्र व आर्त्तध्यान को छोड़कर धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की उपासना करनी चाहिये।''

दोहा- **इत चिंतामणि है महत, उत खल टूक असार।**
ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार।।२०।।

अब वह शिष्य जिसे समझाये जाने से श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रुपसे बतलाया है वह कैसा है? उस आत्मा का क्या स्वरुप है? आचार्य कहते हैं–

स्वसंवेदनसुव्यक्त स्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ।।२१।।

अन्वय–आत्मा,लोकालोकविलोकनः अत्यन्तसौख्यवान् तनुमात्रः निरत्ययः स्वसंवेदनसुव्यक्तः (अस्ति)।

टीका–अस्ति। कोऽसौ, आत्मा। कीदृशः, लोकालोकविलोकनः लोको जीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोकः तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतया[1] लोक्यते पश्चति जानाति। एतेन ''ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा'' इति सांख्यमतं बुद्धयादिगुणोज्झितः पुमानिति यौगमतं च प्रत्युक्तम्। प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्यवादो[2] बौद्धानाम्। पुनः कीदृशः,अत्यन्तसौख्यवान् अनन्तसुखस्वभावः। एतेन सांख्ययौगतन्त्रं प्रत्याहतम्। पुनरपि कीदृशस्तनुमात्रः स्वोपात्तशरीरपरिमाणः। एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मानं वदन्तौ प्रत्याख्यातौ। पुनरपि कीदृशः, निरत्ययः द्रव्यरुपतया नित्यः। एतेन गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानानश्चार्वाको[3] निराकृतः। ननु प्रमाणसिद्धे वस्तुन्येवं गुणवादः श्रेयान्न चात्मनस्तथा प्रमाणसिद्धत्व मस्तीत्यारेकायामाह–स्वसंवेदनसुव्यक्त इति। उक्तं च–

''वेद्यत्वं वेदकत्वं च, यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ।।१६१।।''–तत्त्वानुशासनम्

इत्येवंलक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण[4] सकलप्रमाणधुर्येण[5] सुष्ठु उत्कैश्च गुणैः संपूर्णतया व्यक्तः विशदतयानुभूतो योगिभिः स्वेकदेशेन।

अत्राह शिष्यः यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम्। गुरुराह– ।।२१।।

---

१ परिपूर्णतया। २ अभावात्मको मोक्षः। ३ ब्रुवन्। ४ प्रमाणेन।५ मुख्येन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ–आत्मा लोक और अलोक को देखने जानने वाला, अत्यन्त अनन्तसुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदन से तथा कहे हुए गुणों से योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ है।

विशदार्थ–जीवादिक द्रव्यों से घिरे हुए अकाश को लोक और उससे अन्य सिर्फ आकाश को अलोक कहते हैं। उन दोनों को विशेषरुप से उनके समस्त विशेषों में रहते हुए जो जानने देखने वाला है, वह आत्मा है। ऐसा कहने से ''ज्ञानशून्य चैतन्यमात्रमात्मा'' ज्ञान से शून्य सिर्फ चैतन्यमात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्यदर्शन तथा ''बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान्'' बुद्धि सुख दुःखादि गुणों से रहित पुरुष है, ऐसा योगदर्शन खंडित हुआ समझना चाहिये। और बौद्धों का 'नैरात्म्यवाद' भी खंडित हो गया। फिर बतलाया गया है कि 'वह आत्मा सौख्यवान् अनंत सुखस्वभाववाला है,। ऐसा कहने से सांख्य और योगदर्शन खंडित हो गया। फिर कहा गया कि वह ''तनुमात्रः'' 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर–परिमाणवाला है'। ऐसा कहने से जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है' अथवा 'आत्मा वटकणिका मात्र है' उनका खंडन हो गया। फिर वह आत्मा ''निरत्ययः'' 'द्रव्यरुप से नित्य है' ऐसा कहने से, जो चार्वाक यह कहता था कि ''गर्भ से लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है,'' उसका खण्डन हो गया।

यहाँ पर किसी की यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तुका ही गुण–गान करना उचित है। परन्तु आत्मा में प्रमाण सिद्धता ही नहीं है–वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। तब ऊपर कहे हुए विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद? ऐसी शंका होन पर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन–सुव्यक्त है,' स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। ''वेद्यत्वं वेदकत्वं च०''

''जो योगी को खुदका वेद्यत्व व खुदके द्वारा वेदकत्व होता है, बस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। अर्थात् उसी को आत्मा का अनुभव व दर्शन कहते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है, चैतन्यकी उस परिणतिको स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। उसी को आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं। इस प्रकार के स्वरुपवाले स्वसंवेदन–प्रत्यक्ष (जो कि सब प्रमाणों में मुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणों से सम्पूर्ण तया प्रकट वह आत्मा योगिजनों को एक देश विशदरुप से अनुभव में आता है।'' ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोहा- निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान।
लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान॥२१॥

यहाँ पर शिष्य कहता है कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करने के उपायों को पूछा गया है।

आचार्य कहते हैं-

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥२२॥

अन्वय-करणग्रामं संयम्य चेतसः एकाग्रत्वेन आत्मवान् आत्मनि स्थितं आत्मानं आत्मना एवं ध्यायेत्।

टीका-ध्यायेत्। भावयेत्। को सौ, आत्मवान् गुप्तेन्द्रियमना अध्वस्तस्वायत्तवृत्तिर्वा। कं, आत्मानं यथोक्तस्वभावं पुरुषम्। केन, आत्मनैव स्वसंवेदनरुपेण स्वेनैव तज्ज्ञप्तौ करणान्तराभावात्। उक्तंच-

''स्वपरज्ञप्तिरुपत्वात्, न तस्य कारणान्तरम्।
ततश्चिन्तां परित्यज्य, स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम्॥१६२॥''-तत्त्वानुशासनम्

क्व तिष्ठन्तमित्याह, आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरुपमात्राधारत्वात्। किं कृत्वा? संयम्य रुपादिभ्यो व्यावृत्त्य। किं, करणग्रामं चक्षुरादीन्द्रियगणम्। केनोपायेन, एकाग्रत्वेन एकं विवक्षितमात्मानं तद द्रव्यं पर्यायो वा अंग्रं प्राधान्येनालम्बनं विषयो यस्य अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं[1] अग्रमात्मग्राह्यं यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन। कस्य, चेतसो मनसः। अयमर्थो यत्र क्वचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टम्भात् आलम्बितेन मनसा इन्द्रियाणि निरुद्ध्य स्वात्मानं च भावयित्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य चिन्तां त्यक्त्वा स्वसंवेदनेनैवात्मानमनुभवेत्। उक्तंच-

''गहियं तं सुअणाणा, पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।
जो ण हु सुयमवलंवइ, सो मुज्झइ अप्पसब्भावो॥''
-अनगारधर्मामृते तृतीयोऽध्यायः पृ० १७०॥

तथा च

''प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्'' ॥३२॥-समाधिशतकम्

अथाह शिष्यः आत्मोपासनया किमिति भगवन्नात्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात् फलप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरिति[2] पृष्टः सन्नाचष्टे-॥२२॥

अर्थ-मनकी एकाग्रतासे इन्द्रियों को वश में कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है

१. अविच्छिन्नं प्रवर्तमानं। २. फल ज्ञान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे।

विशदार्थ–जिसने इन्द्रिय और मनको रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मनकी उच्छृंखल एवं स्वैराचाररूप प्रवृत्तिको ध्वस्त कर दिया है,ऐसा आत्मा, जिसका स्वरुप पहिले (नं० २१ के श्लोक में) बता आये हैं, आत्मा को आत्मा से ही यानी स्वसंवेदनरुप प्रत्यक्ष ज्ञान से ही ध्यावे, कारण कि स्वयं आत्मा में ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है। उस ज्ञप्ति में और कोई करणान्तर नहीं होते। जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है– ''स्वपरज्ञप्तिरुपत्वात्०''

''वह आत्मा स्वपर–प्रतिभासस्वरुप है। वह स्वयं ही स्वयं को जानता है, और परको भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य कारणों की आवश्यकता नहीं है। इसलिये चिन्ता को छोड़कर स्वसंवित्ति–स्वसंवेदन के द्वारा ही उसे जानो, कि खुदमें ही स्थित है। कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ रुवस्प में ही रहा करते हैं। इसके लिये उचित है कि मनको एकाग्र कर चक्षु आदिक इंद्रियों की अपने अपने विषयों (रुप आदिकों) से व्यावृत्ति करे।'' यहाँ पर संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधर जीने 'एकाग्र' शब्द के दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। एक कहिये विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पर्याय, वही है अग्र कहिये प्रधानता से आलम्बनभूत विषय जिसका ऐसे मनको कहेंगे 'एकाग्र'। अथवा एक कहिये पूर्वापर पर्यायों में अविच्छिन्न रुप से प्रवर्तमान द्रव्य–आत्मा वही है, अग्र–आत्मग्राह्य जिसका ऐसे मनको एकाग्र कहेंगे।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मा में ही श्रुतज्ञान के सहारे से भावनायुक्तहुए मन के द्वारा इंद्रियों को रोक कर स्वात्मा की भावना कर उसी में एकाग्रता को प्राप्त कर चिन्ता को छोड़कर स्वसंवेदन के ही द्वारा आत्मा का अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है–''गहियं तं सुअणाणा०''

अर्थ–''उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे। जो श्रुतज्ञानका आलम्बन नहीं लेता वह आत्मस्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है। इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यपादस्वामी के समाधिशतक में कहा है–''प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं०''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

''मैं इंद्रियों के विषयों से अपने को हटाकर अपने में स्थित ज्ञानस्वरुप पर परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ।'' ।।२२।।

दोहा- **मनको कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।**
आतमज्ञानी आत्ममें, निजको निजसे ध्याय।।२२।।

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सधेगा–क्या फल मिलेगा? क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञान पूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य जवाब देते हैं–

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः।।२३।।

अन्वय–अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानिसमाश्रयः ज्ञानं ददाति ''यत्तु तस्य अस्ति तदेव ददाति'' इदं सुप्रसिद्धं वचः।

टीका–ददाति। कासौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रान्तिः संदिग्धगुर्वादिर्वा उपास्तिः सेवा। किं? अज्ञानं, मोहभ्रमसंदेहलक्षणं। तथा ददाति। कासौ, ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वादिर्वा समाश्रयः। अनन्यपरया सेवनं। किं? ज्ञानं स्वार्थावबोधम्। उक्तंच,–

''ज्ञानमेव फलं ज्ञाने, ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्य, मन्यदप्यत्र मृग्यते'' ।।१७५।।–आत्मानुशासनम्

को अत्र दृष्टान्त इत्याह यदित्यादि। ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे। तेनायमर्थः संपद्यते। यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमानं तदेव ददातीत्येतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभितस्वपरविवेकज्योतिरजस्र-मात्मानमात्मनि सेव्यश्च। अत्राप्याह शिष्यः– ज्ञानिनोध्यात्मस्वस्थस्य किं भवतीति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोयम्। गुरुराह–।।२३।।

अर्थ–अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिककी सेवा अज्ञान को देती है, और ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञानको देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरे को कहाँ से देगा?

विशदार्थ–अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्याज्ञान (मोह–भ्रांति–संदेह) वाले मूढ़–भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह–भ्रम व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओं की तत्परता के साथ सेवा, स्वार्थावबोधरुप ज्ञान को देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है– ''ज्ञानमेव फलं ज्ञाने०''

''ज्ञान होने का फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चय से जानो। अहो! यह मोहका ही माहात्म्य है जो इसमें ज्ञान को छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। ज्ञानात्मा से ज्ञान की ही प्राप्ति होना न्याय है। इसलिये हे भद्र! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है स्वपर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करने के योग्य है।'' ॥२३॥

दोहा– **अज्ञभक्ति अज्ञान को, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान।**
लोकोक्ति जो जो धरे, करे सो ताको दान॥२३॥

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानीको क्या फल मिलता है? इसमें स्वात्मनिष्ठ योगी की अपेक्षा से स्वात्मध्यान का फल पूछा गया है। आचार्य कहते हैं–

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा॥२४॥

अन्वय–अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आशु जायते।

टीका–जायते भवति। कासौ, निर्जरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेष इत्यर्थः। केषां, कर्मणां सिद्धयोग्यपेक्ष्याऽशुभानां च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनाम्। कथमाशु सद्यः। केन, अध्यात्मयोगेन अध्यात्मन्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला, नेत्याह–निरोधिनी प्रतिषेधयुक्ता। कस्यास्रवस्यागमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यम्। कुत इत्याह, परीषहाणां क्षुधादिदुःखभेदानामादिशब्दाद्देवादिकृतोपसर्ग–बाधानां चाविज्ञानासंवेदनात्। तथा चोक्तम्।

''यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं, न तस्य पुनरास्रवं'' ॥२४६॥–आत्मानुशासनम्
''तथा ह्यचरमाङ्गस्य, ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्ज्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्मणाम्'' ॥२२५॥–तत्त्वानुशासनम्
''आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुःष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते'' ॥३४॥–समाधिशतकम्

एतच्च व्यवहारनयादुच्यते। कुत इत्याशङ्कायां पुनराचार्य एवाह–सा खलु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मणो भवति तस्य संबन्धस्तदा कथमिति। वत्स आकर्णय खलु यस्मात्सा एकदेशेन विश्लेषलक्षणा निर्जरा कर्मणः चित्सामान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरुपस्य द्रव्यकर्मणः संबन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवात्। तस्य च द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरुपमात्रावस्थानकाले संबन्धः प्रत्यासत्तिरात्मना सह। कथं केन संयोगादिप्रकारेण संभवति? सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षस्व न कथमपि संभवतीत्यर्थः। यदा खल्वात्मैव ध्यान ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरुपमात्रा-वस्थितत्वात्कथं द्रव्यान्तरेण संबन्धः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात्। न चैतत्संसारिणो न संभवतीति वाच्यं। संसारतीरप्राप्तस्य योगिनो मुक्तात्मवत् पञ्चह्रस्वतस्वोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणाभिमुखस्य लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेश-वशात्तावन्मात्रकर्मपारतन्त्र्यव्यवहरणात्। तथा चोक्तं परमागमे-

''सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।

कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि'' ।।६५।।-गोम्मटसार जीवकांड। श्रूयतां चास्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकः ।।२४।।

अर्थ-आत्मा में आत्मा के चिंतवन रुप ध्यान से परीषहादिकका अनुभव न होने से कर्मों के आगमन को रोकने वाली कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है।

विशदार्थ-अध्यात्मयोगसे आत्मा में आत्मा का ही ध्यान करने से कर्मों की निर्जरा (एकदेशसे कर्मों का क्षय हो जाना, कर्मों का संबंध छूट जाना) हो जाती है। उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारों के कर्मों की निर्जरा हो जाती है। और जो साध्ययोगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो बात नहीं है। अपितु भूख-प्यास आदि दुःखके भेदों (परीषहों) की तथा देवादिकों के द्वारा किये गये उपसर्गों की बाधा को अनुभव में न लाने से कर्मों के आगमन (आस्रव) को रोक देने वाली निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है:- ''यस्य पुण्यं च पापं च०''

''जिसके पुण्य और पापकर्म, बिना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं-खिर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता। इस श्लोक द्वारा पुण्य-पापरुप दोनों ही प्रकार के कर्मों की निर्जरा होना बतलाया है। और भी तत्त्वानुशासन में कहा है-''तथा ह्यचरमांगस्य०''

चरमशरीरीके ध्यानका फल कह देने के बाद आचार्य अचरमशरीरीके ध्यान का फल बतलाते हुए कहते हैं-कि जो सदा ही ध्यान का अभ्यास करने वाला है, परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्भवमोक्षगामी नहीं है) ऐसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्याता को सम्पूर्ण अशुभ कर्मों की निर्जरा व संवर होता है। अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मों का संवर तथा निर्जरा करता है। इस श्लोक द्वारा पापरुप कर्मों की ही निर्जरा व उनका संवर होना बतलाया गया है। और भी पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है- ''आत्मदेहान्तरज्ञान०''

''आत्मा व शरीर के विवेक (भेद) ज्ञान से पैदा हुए आनन्द से परिपूर्ण (युक्त) योगी,तपस्या के द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोर परीषहों को भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।

यह सब व्यवहारनय से कहा जाता है कि बन्धवाले कर्मों की निर्जरा होती है, परमार्थ से नहीं। कदाचित् तुम कहो कि ऐसा क्यों? आचार्य कहते हैं कि वत्स! सुनो, क्योंकि एकदेश से सम्बन्ध छूट जाना, इसी को निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा कर्म की (चित्सामान्य के साथ अन्वयव्यतिरेक रखने वाले पुद्गलों के परिणाम रुप द्रव्यकर्मकी) हो सकती है। क्योंकि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्यों में ही बन सकता है। अब जरा बारीक दृष्टि से विचार करो कि उस समय जब कि योगी पुरुष स्वरुपमात्र में अवस्थान कर रहा है, उस समय द्रव्यकर्मका आत्मा के साथ संयोगादि सम्बन्धों में से कौन सा सम्बन्ध हो सकता है? मतलब यह है कि किसी तरह का सम्बन्ध नहीं बन सकता। जिस समय आत्मा ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरह से आत्मा परद्रव्यों से व्यावृत्त होकर केवलस्वरुप में ही स्थित हो जाता है। तब उसका दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध कैसा? क्योंकि सम्बन्ध तो दोमें रहा करता है, एक में नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरह की अवस्था संसारीजीव में नहीं पाई जाती। कारण कि संसार रुपी समुद्र-तटके निकटवर्ती अयोगीजनों का मुक्तात्माओं की तरह पंच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ ऌ) के बोलने में जितना काल लगता है, उतने कालतक वैसा (निर्बन्ध-बन्ध-रहित) रहना सम्भव है।

शीघ्र ही जिनके समस्त कर्मों का नाश होने वाला है, ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों) में भी उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके संस्कार के वश से उतनी उतनी देर (पंच ह्रस्व अक्षर बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्मपरतन्त्रताका व्यवहार होता है जैसा कि परमागम में कहा गया है- ''सीलेसिं संपत्तो०''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

''जो शीलों के ईशत्व (स्वामित्व) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्रव रुक गये हैं, तथा जो कर्मरुपी धूली से रहित हो गया है, वह गतयोग–अयोग केवली होता है'' ।।२४।।

दोहा– **परिषहादि अनुभव विना, आतम–ध्यान प्रताप।**
शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्मकी आप ।।२४।।

उपरिलिखित अर्थको बतलाने वाला और भी श्लोक सुनो–

कटस्य कर्त्ताहमिति, संबन्धः स्याद् द्वयोर्दयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबन्धः कीदृशस्तदा।।२५।।

अन्वय–अहं कटस्य कर्त्ता इति द्वयोर्द्वयोः संबन्धः स्यात्, यदा आत्मैव ध्यान ध्येयं तदा कीदृशः संबन्धः।

टीका–स्याद् भवेत्। कोसौ, संबन्धः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः। कयोर्द्वयोः कथंचिद् भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथमिति यथाहमस्मि। कीदृशः,कर्त्ता निर्माता। कस्य, कटस्य वंशदलानां जलादिप्रतिबन्धाद्यर्थस्य परिणामस्य। एवं संबन्धस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह। ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्त्ता वा। उक्तं च–

''ध्यायते येन तद्ध्यानं, यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ?'' ।।६७।।–तत्त्वानुशासनम्

ध्यायत इति ध्येयं वा ध्यातिक्रियया ध्याप्यं। यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात्तदा कीदृशः संयोगादिप्रकारः संबन्धो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायतेध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निजरिति परमार्थतः कथ्यते। अत्राह शिष्यः–तर्हि कथं अप्रतिपक्षश्च मोक्ष इति भगवन् यद्यात्मकर्मबन्धस्ते, द्रव्ययोरध्यात्मयोगेन विश्लेषः क्रियते। तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयो्र्बन्धः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात्। तत्पूर्वकत्वाद्विश्लेषस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो बन्धविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात्तस्यैवानन्तसुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात्। गुरुराह– ।।२५।।

अर्थ–''मैं चटाईका बनाने वाला हूँ'' इस तरह जुदा जुदा दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करने वाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बंध कैसा?

विशदार्थ–लोक प्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (जुदा–जुदा) दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जैसे बाँसकी खपच्चियों से जलादिक के संबंध से बनने वाली चटाई का मैं कर्त्ता हूँ–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनाने वाला हूँ। यहाँ बनाने वाला 'मैं' जुदा हूँ और बनने वाली 'चटाई' जुदी है। तभी उनमें 'कर्तृकर्म' नामका सम्बंध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बंध द्विष्ठ (दोमें रहने वाला) हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृत में वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है इसको दिखलाते हैं।

''ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं, ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्त्ता च''-जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है-ध्यान का कर्त्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है-''ध्यायते येन तद् ध्यानं०''

''जो ध्यैञ् चिन्तायाम्'' धातुका व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे,उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा? जिससे कि ''अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है'' यह बात परमार्थ से कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परंतु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में किसी भी प्रकार कर्मका सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका? इसलिये सिद्धयोगी कहो या गत योगी अथवा अयोग केवली कहो, उनमें कर्मों की निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारनय से ही है, परमार्थ से नहीं।'' ॥२५॥

दोहा- **'कटका मैं कर्तार हूँ' यह है द्विष्ठ सम्बन्ध**
आपहि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध ॥२५॥

यहाँ पर शिष्यका कहना है कि भगवन्! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्यका अध्यात्मयोग के बलसे बन्ध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकार से उन दोनों में (आत्मा और कर्मरुप पुद्‌गल द्रव्यों में) परस्पर एक के प्रदेशों में दूसरे के प्रदेशों का मिल जाना रुप बंध होगा? क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा। और बंधका प्रतिपक्षी, संपूर्ण कर्मों की विमुक्तावस्था रुप मोक्ष भी जीवको कैसे बन सकेगा? जो कि अविच्छिन्न अविनाशी सुखका कारण होने से योगियों के द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है? आचार्य कहते हैं-

बध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वय–सममः निर्ममः जीवः क्रमात् बध्यते मुच्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।

टीका–ममेत्यव्ययं ममेदमित्यभिनिवेशार्थमव्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदमित्यभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते। तथा चोक्तम्–

''न कर्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्म वा,
न नैककरणानि वा,न चिदचिद्विधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभू समुपयाति रागादिभिः,
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्'' ।।२।।

–नाटकसमयसारकलशाः बन्धोऽधिकारः। अनगारधर्मामृते षष्ठोऽध्यायः पृ० २०५

तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तम्। उत्तं च–

''अकिंचनो हमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः'' ।।११०।।–आत्मानुशासनम्
अथवा
''रागी बध्नाति कर्माणि, वीतरागो विमुञ्चति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं, संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः'' ।।–ज्ञानार्णव पृ० २४२

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन।।

इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुर्विशेषेण भावयेत्। उक्तं च–

''निवृतिं भावयेद्यावन्निर्वृत्तिं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च, तदेव पदमव्ययं'' ।।२३६।।–आत्मानुशासनम्

अथाह शिष्यः– कथं नु तदिति निर्ममत्वविचिन्तनोपायप्रश्नोऽयम् अथ गुरुस्तत्प्रक्रियां म म विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति– ।।२६।।

अर्थ–''ममतावाला जीव बँधता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसलिये हर तरह से पूरी कोशिश के साथ निर्ममता का ही ख्याल रक्खें।''

विशदार्थ–अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए ''मम'' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है, इसलिये 'समम' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है। उपलक्षण से यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने समयसारकलशमें कहा है–''न कर्मबहुलं जगन्न०''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ–न तो कर्मस्कंधों से भरा हुआ यह जगत् बंधका कारण है, और न हलनचलनादिरूप क्रिया ही, न इन्द्रियाँ कारण हैं, और न चेतन अचेतन पदार्थों का विनाश करना ही बन्ध का कारण है। किन्तु जो उपयोगी रूपी जमीन रागादिकों के साथ एकता को प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है। यदि वही जीव निर्ममरागादि रहित–उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मों से छूट जाता है। कहा भी है कि–''अकिंचनोऽहं०''

मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन लोक के स्वामी हो जाओ। यह तुम्हें बड़े योगियों के द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।

और भी कहा है–''रागी बध्नाति कर्माणि०'' रागी जीव कर्मों को बाँधता है। रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। बस यही संक्षेप में बंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्र का उपदेश है। जब कि ऐसा है, तब हर एक प्रयत्न से व्रतादिकों में चित्त लगाकर अथवा मन, वचन, काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना चाहिये ''मत्तः कायादयो भिन्नास्०''

''शरीरादिक, मुझ से भिन्न हैं, मैं भी परमार्थ से इनसे भिन्न हूँ, न मैं इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हैं।'' इत्यादिक श्रुतज्ञान की भावना से मुमुक्षु को भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासन में गुणभद्रस्वामीने कहा है।– ''निवृतिं भावयेत्०''

जब तक मुक्ति नहीं हुई तब तक परद्रव्यों से हटने की भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी। बस वही अविनाशी पद जानो ।।२६ ।।

दोहा– मोही बाँधत कर्मको, निर्मोही छुट जाय।
यातें गाढ़ प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय।।२६।।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे होवे? इसमें निर्ममता के चिंतवन करने के उपायों का सवाल किया गया है। अब आचार्य उसकी प्रक्रिया को ''एकोऽहं निर्ममः०'' से प्रारंभ कर ''मम विज्ञस्य का स्पृहा०'' तक के श्लोकों द्वारा बतलाते हैं।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।२७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वय–अहं एकः निर्ममः शुद्धः ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः संयोगजाः सर्वेऽपि भावा मत्तः सर्वथा बाह्याः।

टीका–द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो ममेदमहमस्येत्य-भिनिवेशशून्यः शुद्धः शुद्धनयादेशाद्द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तो ज्ञानी स्वपरप्रकाशनस्वभावो योगीन्द्रगोचरो नन्तपर्यायविशिष्टतया केवलिनां शुद्धोपयोगमात्रमयत्वेन श्रुत-केवलिनां च संवेद्योहमात्मास्मि ये तु संयोगाद् द्रव्यकर्मसंबन्धाज्जाता मया सह संबन्धं प्राप्ता भावा देहादयस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या भिन्नाः सन्ति पुनर्भावक एवं विमृशति संयोगात्किमिति देहादिभिः संबन्धाद्देहिनां किं फलं स्यादित्यर्थः। तत्र स्वयमेव समाधत्ते- ॥२७॥

अर्थ–मैं एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझ से सर्वथा बाहिरी-भिन्न हैं।

विशदार्थ–मैं द्रव्यार्थिकनय से एक हूँ, पूर्वापर पर्यायों में अन्वित हूँ। निर्मम हूँ–'मेरा यह' 'मैं इसका' ऐसे अभिनिवेशसे रहित हूँ। शुद्ध हूँ, शुद्धनय की अपेक्षा से, द्रव्य कर्म भावकर्म से रहित हूँ, केवलियों के द्वारा तो अनन्त पर्याय सहित रुप से और श्रुतकेवलियों के द्वारा शुद्धोपयोगमात्र रुप से जानने में आ सकने लायक हूँ, ऐसा मैं आत्मा हूँ, और जो संयोग से द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध से प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझ से हर तरह से (द्रव्य से गुण से पर्याय से) बिल्कुल जुदे हैं॥२७॥

दोहा– **मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य।**
कर्मोदय से भाव सब, मोते पूर्ण अगम्य ॥२७॥

फिर भावना करने वाला सोचता है कि देहादिक के संबंध से प्राणियों को क्या होता है? क्या फल मिलता है? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि-

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः॥२८॥

अन्वय–इह संयोगात् देहिनां दुःखसंदोहभागित्वं ततः एनं सर्वमनो-वाक्कायकर्मभिः त्यजामि।

टीका–दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्वं देहिनामिह संसारे संयोगाद्देहा-दिसंबन्धाद्भवेत्। यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि। कैः क्रियमाणं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोवाक्कायकर्मभिर्मनोवर्गणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेशपरिस्पन्दैस्तैरेव त्यजामि। अयमभिप्रायो मनोवाक्कयान्प्रतिपरिस्पन्दमानात्मप्रदेशान् भावतो निरुन्धामि। तद्भेदाभेदाभ्यासमूलत्वात्सुखदुः खैकफलनिर्वृतिसंसृत्योः। तथा चोक्तम्–

''स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां, तदाभ्यासेन निर्वृतिः'' ।।६२।।–समाधिशतकम्

पुनः स एवं विमृशति–पुद्गलेन देहात्मना किल संयोगस्तदपेक्षा मरणादयस्तद्व्यथाः कथं परिह्रियन्त इति। पुद्गलेन मूर्त्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणो जीवस्य संबन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गलसंयोगनिमित्ते मरणादयो मृत्युरोगादयः संभवन्ति। तद्यथा मरणादयः संभवन्ति। मरणादि संबन्धिन्योबाधां संभवन्ति कथं? केन भावनाप्रकारेण मया परिह्रियन्ते। तदभिभवः कथं निवार्यत इत्यर्थः। स्वयमेव समाधत्ते– ।।२८।।

अर्थ–इस संसार में देहादिक के सम्बंध से प्राणियों को दुःख–समूह भोगना पड़ता है–अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिये इस समस्त सम्बंध को जो कि मन,वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं, मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ। अभिप्राय यह है कि मन, वचन काय का आलम्बन लेकर चंचल होने वाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूँ। 'आत्मा मन, वचन, काय से भिन्न है,' इस प्रकार के अभ्यास से सुखरुप एक फल वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है, और मन, वचन, काय से आत्मा अभिन्न है, इस प्रकार के अभ्यास से दुःख रुप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है, जैसा कि पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है–''स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्०''

''जब तक शरीर, वाणी और मन इन तीनों को ये 'स्व हैं–अपने हैं' इस रुप में ग्रहण करता रहता है। तब तक संसार होता है, और जब इनसे भेद–बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति हो जाती है।'' ।।२८।।

दोहा– प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात।
याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात ।।२८।।

फिर भावना करने वाला सोचता है कि पुद्गल–शरीरादिकरुपी मूर्तद्रव्य के साथ जैसा कि आगम में सुना जाता है, जीवका सम्बंध है। उस सम्बंध के कारण ही जीवका मरण व रोगादिक होते हैं, तथा मरणादि सम्बंधी बाधायें भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावना से हटाया जावे? वह भावना करने वाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं, न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

अन्वय–मे मृत्युर्न, कुतः भीतिः मे व्याधिर्न व्यथा कुतः, अहं न बालः,नाहं वृद्धः, न युवा, एतानि पुद्गले।

टीका–न मे एकोऽहमित्यादिना निश्चितात्मस्वरुपस्य मृत्युः प्राणत्यागो नास्ति। चिच्छक्ति लक्षणभावप्राणानां कदाचिदपि त्यागाभावात्। यतश्च मे मरणं नास्ति ततः कुतः कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसर्पादेर्भीतिर्भयं मम स्यान्न कुतश्चिदपि बिभेमीत्यर्थः। तथा व्याधिर्वातादिदोषवैषम्यं मम नास्ति मूर्त्तसंबन्धित्वाद्वातादीनाम्। यतश्चैवं ततः कस्मात् ज्वरादिविकारात् मम व्यथा स्यात्तथा बालाद्यवस्थो नाहमस्मि ततः कथं बालाद्यवस्थाप्रभवैः दुःखैरभिभूयेय अहमिति सामर्थ्यादत्र द्रष्टव्यम्। तर्हि क्व मृत्युप्रभृतीनि स्युरित्याह–एतानि मृत्युव्याधिबालादीनि पुद्गले मूर्त्ते देहादावेव संभवन्ति। मूर्तधर्मत्वादमूर्त्ते मयि तेषां नितरामसंभवात्। भूयोऽपि भावक एव स्वयमाशङ्कते तर्ह्येतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यन्तीति यद्युक्तनीत्या भयादयो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादिवस्तून्यासाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानीदानीं भेदभावनावष्टम्भान्मया त्यक्तानि। चिराभ्यस्ताभेदसंस्कार-वशात्पश्चात्तापकारीणि किमितीमानि मयात्मीयानि त्यक्तानीत्यनुशयकारीणि मम भविष्यन्ति। अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति[1] तन्नोति यतः– ॥२९॥

अर्थ–मेरी मृत्यु नहीं तब डर किसका? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ। ये सब बातें (दशाएँ) पुद्गल में ही पाई जाती हैं।

विशदार्थ–''एकोऽहं निर्ममः शुद्धः'' इत्यादिरुप से जिसका स्वस्वरुप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ, उसका प्राणत्यागरुप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित्शक्ति रुप भावप्राणों का कभी भी विछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारण भूत काले नाग आदिकों से मुझे भय क्यों? अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता हूँ। इसी प्रकार बात, पित्त, कफ आदिकी विषमता को व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि बात आदिक मूर्तपदार्थ से ही सम्बंध रखने वाले हैं। जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी? उसी तरह मैं बाल वृद्ध आदि अवस्था वाला भी नहीं हूँ। तब बाल वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होने वाले दुःखों–क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ? अच्छा यदि मृत्यु

१ करोति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वगैरह आत्मा में नहीं होते, तो किसमें होते हैं? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्गले' ये मृत्यु-व्याधि और बाल वृद्ध आदि दशाएँ पुद्गल-मूर्त शरीर आदिकों में ही हो सकती हैं। कारण कि ये सब मूर्तिमान् पदार्थों के धर्म हैं। मैं तो अमूर्त हूँ, मुझ में वे कदापि नहीं हो सकतीं।

दोहा- **मरण रोग मोमें नहीं, तातें सदा निशंक।**
बाल तरुण नहिं वृद्ध हूं, ये सब पुद्गल अंक ॥२९॥

फिर भावना करने वाला खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीति के अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही परन्तु जो जन्म से लगाकर अपनाई गई थी और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावना के बलसे छोड़ दिया है, ऐसी देहादिक वस्तुएँ, चिरकाल के अभ्यस्त-अभेद संस्कार के वश से पश्चात्ताप करने वाली हो सकती हैं कि 'अपनी इन चीजों को मैंने क्यों छोड़ दिया?'

भावक-भावना करने वाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि-

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वे पि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा॥३०॥

अन्वय-मोहात् सर्वे पि पुद्गलाः मया मुहुर्भुक्तोज्झिताः उच्छिष्टेष्विव तेषु अद्य विज्ञस्य मम का स्पृहा।

टीका-मोहादविद्यावेशवशादनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय सर्वे पुद्गला मया संसारिणा जीवेन वारं वारं पूर्वमनुभूताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ताः यतश्चैवं तत उच्छिष्टेष्विव भोजनगन्धमाल्यादिषु स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु[1] पुद्ग्गलेषु का स्पृहा? न कदाचिदपि। वत्स! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिन्तनीयम्। अत्राह शिष्यः। अथ कथं ते निबध्यन्त इति अथेति प्रश्ने केन प्रकारेण पुद्गला जीवेन नियतमुपादीयन्ते इत्यर्थः। गुरुराह- ॥३०॥

अर्थ-मोहसे मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार-बार भोगा, और छोड़ा। भोग भोगकर छोड़ दिया। अब जूठन के लिए (मानिन्द) उन पदार्थों में मेरी क्या चाहना हो सकती है? अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है।

---

१ फेलाभुक्तसमुज्झितम्। अ.। भुक्त्वा त्यक्तमित्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशदार्थ–अविद्याके आवेशके वश से अनादिकालसे ही मुझ संसारीजीवने कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार–बार पहिले भोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) कर करके छोड़ दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूँठन–उच्छिष्ट भोजन, गन्ध,मालादिकों में जैसे लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञान से विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलों में क्या अभिलाषा हो सकती है? नहीं नहीं, हरगिज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्वकी ही भावना करनी चाहिये ।।३०।।

दोहा– **सब पुद्गल को मोह से, भोग भोगकर त्याग।**
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग।।३०।।

यहाँ पर शिष्ट कहता है कि वे पुद्गल क्यों बँध जाते हैं? अर्थात् जीवके द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं?

आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं:–

कर्म कर्महिताबन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति ।।३१।।

अन्वय–कर्म, कर्महिताबन्धि, जीवः जीवहितस्पृहः स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति।

टीका– ''कत्थवि बलिओं जीवों, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वविरुद्धाइ वइराइ।।''

इत्यभिधानात्पूर्वोपार्जितं बलवत्कर्म कर्मणः स्वस्यैव हितमाबध्नाति जीवस्यौदयिकादिभावमुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः। तथा चोक्तम्–

''जीवकृतं परिणामं, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन'' ।।१२।।–पुरुषार्थसिद्ध्युपायः
''परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं, पौद्गलिकं कर्म तस्यापि'' ।।१३।।–पुरुषार्थसिद्ध्युपायः

तथा जीवः कालदिलब्ध्या बलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनन्तसुख–हेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकाङ्क्षति। अत्र दृष्टान्तमाह–स्वस्वेत्यादि निजनिजमाहात्म्य–बहुतरत्वे सति स्वार्थे स्वस्योपकारकं वस्तु को न वाञ्छति सर्वोप्यभिलषतीत्यर्थः। ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्म संचिनोतीति। यतश्चैवं ततः– ।।३१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ–कर्म कर्मका हित चाहते हैं। जीव जीवका हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने अपने प्रभावके बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता। अर्थात् सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं।

विशदार्थ–कभी जीव बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान् हो जाते हैं। इस तरह जीव और कर्मों का पहिले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है। ऐसा कहने से मतलब यह निकला कि पूर्वोपार्जित बलवान् द्रव्यकर्म, अपना यानी द्रव्यकर्मका हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीव में औदयिक आदि भावों को पैदा कर नये द्रव्य कर्मों को ग्रहणकर अपनी संतान को पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है–''जीवकृतं परिणामं०'' ''परिणममानस्य०''

जीवके द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं, प्राप्त करके जीवसे विभिन्न पुद्गल, खुद ब–खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं। और अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणम ने वाले जीवके लिये वह पौद्गलिककर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है। तथा कालादि लब्धि से बलवान् हुआ जीव अपने हितको अनन्त सुखका कारण होने से उपकार करने वाले स्वात्मोपलब्धिरुप मोक्षको चाहता है। यहाँ पर एक स्वभावोक्ति कही जाती है कि ''अपने अपने माहात्म्यके प्रभावके बढ़ने पर स्वार्थ को अपनी–अपनी उपकारक वस्तुको कौन नहीं चाहता? सभी चाहते हैं।।३१।।

दोहा– **कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार।**
निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार ।।३१।।

इसलिये समझो कि कर्मों से बँधा हुआ प्राणी कर्मों का संचय किया करता है। जबकि ऐसा है तब–

परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत्।।३१।।

अन्वय–परोपकृतिं उत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव दृश्यमानस्य परस्य उपकुर्वन् अज्ञः लोकवत्।

टीका–परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं विद्याभ्यासेन त्यक्त्वात्मानुग्रहप्रधानो भव त्वम्। किंकुर्वन्सन्, उपकुर्वन्। कस्य, परस्य सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्येन्द्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः। किविशिष्टो यतस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः किंवल्लोकवत्। यथा लोकः परं परत्वेनाजानस्तस्योपकुर्वन्नपि तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारपरो भवत्येवं त्वमपि भवेत्यर्थः। अथाह शिष्यः। कथं तयोर्विशेष इति केनोपायेन स्वपरयोर्भेदो विज्ञायेत। तद्धि ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः। गुरुराह- ।।३२।।

अर्थ–परके उपकार करने को छोड़कर अपने उपकार करने में तत्पर हो जाओ। इंद्रियों के द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकों का उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो। तुम्हें चाहिये कि दुनियाँ की तरह तुम भी अपनी भलाई करने में लगो।

विशदार्थ–पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या–अज्ञान अथवा मोहके वश से जो उपकार किया जाता रहा है,उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागता के अभ्यास से छोड़कर प्रधानता से अपने (आत्मा के) उपकार करने में तत्पर हो जाओ। तुम सर्वथा अपने (आत्मा) से बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अनुभव में आने वाले इन शरीरादिकों की रक्षा करना आदि रुप उपकार करने में लगे हुए हो। इसलिये मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओं के वास्तविक स्वरुप से अजान) हो। सो जैसे दुनिया के लोग जब तक दूसरे को दूसरे रूप में नहीं जानते, तब तक उनका उपकार करते हैं। परन्तु ज्यों ही वे अपने को अपना और दूसरे को दूसरा जानते हैं,उनका (दूसरों का) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करने में लग जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी तत्त्वज्ञानी बनकर अपने को स्वाधीन शुद्ध बनाने रुप आत्मोपकार करने में तत्पर हो जाओ ।।३२।।

दोहा- **प्रगट अन्य देहादिका, मूढ़ करत उपकार।**
सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार ।।३२।।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि किस उपाय से अपने और पर में विशेषता (भेद) जानी जाती है, और उसके जानने वाले को क्या होगा? किस फल की प्राप्ति होगी? आचार्य कहते हैं–

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।
जानाति यः स जानाति,मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ।।३३।।

अन्वय–यः गुरुपदेशात् अभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं जानाति स मोक्षसौख्यं निरन्तरं जानाति।

टीका–यो जानाति। किं तत्स्वपरान्तरं आत्मपरयोर्भेदं यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः। कुतः संवित्तेर्लक्षणतः स्वलक्ष्यानुभवात्। एषोपि कुतः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्यासात् अभ्यासभावनातः। एषो पि गुरुपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढस्वपरविवेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोढस्वात्मानुभविता मोक्षसौख्यं निरन्तरमविच्छिन्नमनुभवति। कर्मविविक्तनुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य। तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने–

''तदेवानुभवंश्चायमेकाग्रं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्'' ॥१७०॥ –तत्त्वानुशासनम्

अथ शिष्यः पृच्छति–कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षसुखानुभवविषये। गुरुराह– ॥३३॥

अर्थ–जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने और परके अन्तर को (भेदको) जानता है। वह मोक्षसम्बंधी सुखका अनुभवन करता रहता है।

विशदार्थ–गुरु कहिये धर्माचार्य अथवा गुरु कहिये स्वयं आत्मा, उसके उपदेश से सुदृढ़ स्वपर विवेक ज्ञान के पैदा करने वाले वाक्यों के अनुसार अभ्यास करना चाहिए। बार–बार अभ्यास करने से संविति–अपने लक्ष्य का अनुभव होने लगता है। उस संविति (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वात्मा को पर से भिन्न जानता देखता है, भिन्न आत्मा का अनुभव करने वाला मोक्ष–सुख को निरन्तर–हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है। क्योंकि वह मोक्ष–सुख का अनुभव, कर्मों से भिन्न आत्मा का अनुभवन करने वालों को होता है, अन्यों को नहीं। जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है– ''तदेवानुभवंश्चाय०,''

उस आत्मा का अनुभवन करते हुए यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है, और इसी तरह मन तथा वाणी के अगोचर अथवा वचनों से भी न कहे जा सकने वाले स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर लेता है॥३३॥

दोहा– गुरु उपदेश अभ्याससे, निज अनुभव से भेद।
निज पर को जो अनुभवे, लहै स्वसुख वेखेद ॥३३॥

आगे शिष्य पूछता है कि मोक्ष–सुखके अनुभव के विषय में कौन गुरु होता है? आचार्य कहते हैं–

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥३४॥

अन्वय–स्वयं स्वस्मिन् सदभिलाषित्वात् अभीष्टज्ञापकत्वतः हित–प्रयोक्तृत्वात् आत्मनः आत्मा एव गुरुः अस्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका–यः खलु शिष्यः सदा अभीक्ष्णं कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्य तदुपायं तं ज्ञापयति। तत्र चाप्रवर्त्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः। एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात्। कुत इत्याह–स्वयमात्मना स्वस्मिन्मोक्ष-सुखाभिलाषिण्यात्मनि सत् प्रशस्तं मोक्षसुखमभीक्ष्णमभिलषति। मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकाङ्क्षतीत्येवं भयात्। तथाभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखो-पायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वादेष मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात्। तथाहि तं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृत्वात्। अस्मिन्सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन्नात्मन्स्वयमद्यापि न प्रवृत्त इति। तत्रावर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात्। अथ शिष्यः साक्षेपमाह। एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति भगवन्नुक्तनीत्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुः। तुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः। न चैवमेतदिति वाच्यमपसिद्धान्तप्रसङ्गादिति वदन्तं प्रत्याह– ।।३४।।

अर्थ–जो सत्का कल्याण का वांछक होता है, चाहे हुए हितके उपायों को जतलाता है, तथा हितका प्रवर्त्तक होता है, वह गुरु कहलाता है। जब आत्मा स्वयं ही अपने में सत्‌की–कल्याण की यानि मोक्ष–सुखकी अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष–सुख के उपायों को जतलाने वाला है, तथा मोक्ष–सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन कराने वाला है, इसलिये अपना (आत्मा का) गुरु आप (आत्मा) ही है।

विशदार्थ–यह आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है, तब सत्‌की यानी मोक्ष–सुखकी हमेशा अभिलाषा करता रहता है कि मुझे मोक्ष–सुख प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष–सुखके उपायों को जानना चाहता है, तब यह स्वयं मोक्ष के सुखके उपायों को जतलाने वाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुखके उपाय मुझे करना चाहिये। इसी तरह अपने आपको मोक्ष–उपाय में लगाने वाला भी वह स्वयं हो जाता है, कि इस सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपाय में हे दुरात्मन् आत्मा! तुम आजतक अर्थात् अभी तक भी प्रवृत्त नहीं हुए। इस प्रकार अभी तक न प्रवर्तने वाले आत्मा का प्रवर्तक भी हुआ करता है। इसलिये स्वयं ही आत्मा अपने कल्याणका चाहने वाला, अपने को सुखोपाय बतलाने वाला, और सुखोपाय में प्रवृत्ति करने वाला होने से अपना गुरु है।।३४।।

दोहा– आपहिं निज हित चाहता, आपहिं ज्ञाता होय।
आपहिं निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहिं होय ।।३४।।

यहाँ पर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी? बस जब आपस में खुदका खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओं को नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा मानने से अपसिद्धान्त हो जायगा। ऐसे बोलने वाले शिष्य के प्रति आचार्य जवाब देते हैं–

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥३५॥

अन्वय–अज्ञः विज्ञत्वं न आयाति विज्ञः अज्ञत्वं न ऋच्छति गतेर्धर्मास्तिकायवत् अन्यस्तु निमित्तमात्रम्।

टीका–भद्र! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्त्वं तत्वज्ञत्वं धर्माचार्या द्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्–

''स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ, क्रियागुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनापिशुकवत्पाठ्यते वकः'' ॥

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतो अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिंभ्रशमपायसहस्रेणपि न गच्छति। तथा चोक्तम्–

''वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके, मुक्तध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात्।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः, सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु'' ॥६३॥
–पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका पृ० ३३

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह। अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया[1] एवं साक्षात्साधकत्वात्। कस्याः को यथेत्यत्राह, गतेरित्यादि। अयमर्थो–यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्ति रेवगतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्पे केनापि कर्तुमशक्यत्वात्। धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्य विशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यादेवं प्रकृतेऽपि तो व्यवहारादेव गुर्वादिः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या। अथाह शिष्यः– अभ्यासः कथमिति। अभ्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽयम्। अभ्यासः कथ्यत इति क्वचित्पाठः। तत्राभ्यासः स्यात् भूयोभूयः प्रवृत्तिलक्षणत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्तस्य स्थाननियमादिरुपेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः। एवं संवित्तिरुच्यत इत्युत्तरपातनिकाया अपि व्याख्यानमेतत्पाठापेक्षया द्रष्टव्यम्। तथा च गुरोरेवैते वाक्ये व्याख्येये। शिष्यबोधार्थं गुरुराह– ॥३५॥

अर्थ–तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञान को धर्माचार्यादिकों के हजारों उपदेशों से भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि कहा गया है ''स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ०''

१ सामर्थ्यस्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"कोई भी प्रयत्न कार्य की उत्पत्ति करने के लिये स्वाभाविक गुणकी अपेक्षा किया करता है। सैकड़ों व्यापारों से भी बगुला तोते की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता है।"

इसी तरह तत्त्वज्ञानी जीव, तत्त्वज्ञान से छूटकर हजारों उपायों के द्वारा भी अज्ञत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि कहा गया है–"वज्रे पतत्यपि०"

"जिसके कारण भयसे घबराई हुई सारी दुनियाँ मार्ग को छोड़कर इधर–उधर भटकने लग जाय, ऐसे वज्रके गिरने पर भी अतुल शांति सम्पन्न योगिगण योग से (ध्यान से) चलायमान नहीं होते। तब ज्ञानरुपी प्रदीप से जिन्होंने मोहरुपी महान् अन्धकार को नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव क्या शेष परीषहों के आने पर चलायमान हो जायेंगे? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं।"

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जायेगा? इसके विषय में जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में सिर्फ निमित्तमात्र हैं। वास्तवमें किसी कार्य के होने व बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है। जैसे एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये उन्मुख हुए पदार्थों में गति की साक्षात् पैदा करने वाली उन पदार्थों की ही गमन करने की शक्तिहै। क्योंकि यदि पदार्थों में गमन करने की शक्तिन होवे तो उनमें किसी के द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। धर्मास्तिकाय तो गति कराने में सहायकरुप द्रव्यविशेष है। इसलिये वह गति के लिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। यही बात प्रकृत में भी जाननी चाहिये। इसलिये व्यवहार से ही गुरु आदिकों की सेवा शुश्रूषा आदि की जानी चाहिये ।।३५।।

दोहा- **मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।**
निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय ।।३५।।

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है?' इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूछा गया है। सो अभ्यास और उसके उपायों को कहते हैं। बार–बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं। यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है। उसके लिये स्थान कैसा होना चाहिए? कैसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नियमादि रखने चाहिये? इत्यादि रुपसे उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथ में संवित्ति का भी वर्णन करते हैं।

अभवच्चित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः।
अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः॥३६॥

अन्वय–अभवच्चित्तविक्षेपः, तत्त्वसंस्थितः योगी निजात्मनः तत्त्वं एकान्ते अभियोगेन अभ्यस्येत्।

टीका–अभ्यस्येद्भावयेत्कोऽसौ, योगी संयमी। किं, तत्त्वं याथात्म्यं। कस्य, निजात्मनः। केन, अभियोगेन आलस्यनिद्रादिनिरासेन। क्व, एकान्ते योग्यशून्यगृहादौ। किंविशिष्टः सन्, अभवन्नजायमानश्चित्तस्य मनसो विक्षेपो रागादिसंक्षोभो यस्य सोऽयमित्थंभूतः सन्। किंभूतो भूत्वा, तथाभूत इत्याह। तत्त्वसंस्थितस्तत्त्वे हेये उपादेये च गुरुपदेशान्निश्चलधीः यदि वा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्त –कायोत्सर्गादिना व्यवस्थितः। अथाह शिष्यः संवित्तिरिति। अभ्यासः कथमित्यनुवर्त्यते नायमर्थः संयम्यते। भगवन्नुक्तलक्षणा संवित्तिः प्रवर्तमाना केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते। अत्राचार्यो वक्ति। उच्यत इति। धीमन्नाकर्णय वर्ण्यते तल्लिङ्गं तावन्मयेत्यर्थः॥३६॥

अर्थ–जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है, जो आत्मा–स्वरुप रुप में स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक एकान्त स्थान में अपने आत्मा के स्वरुप का अभ्यास करे।

विशदार्थ–नहीं हो रहे हैं चित्त में विक्षेप–रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय–उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरुप से साध्यभूत वस्तु में भले प्रकार से–यानी जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्मा के ठीक–ठीक स्वरुप का एकान्त स्थान में–योगी के लिये योग्य ऐसे शून्य गृहों में, पर्वतों की गुहा–कंदरादिकों में, आलस्य–निद्रा आदि को दूर करते हुए अभ्यास करे॥३६॥

दोहा– **क्षोभ रहित एकान्त में, तत्त्वज्ञान चित धाय।**
सावधान हो संयमी, निज स्वरुप को भाय॥३६॥

यहाँ पर शिष्य पूछता है, कि भगवन्! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी 'संवित्ति हो रही है।' यह बात योगी को किस तरह से मालूम हो सकती है? और उसकी हर एक क्षण में उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता है? आचार्य कहते हैं कि हे धीमन्? सुनो मैं उसके चिह्नका वर्णन करता हूँ-

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि॥३७॥

अन्वय-यथा यथा संवित्तौ उत्तमंतत्त्वं समायाति तथा तथा सुलभा अपि विषया न रोचन्ते।

टीका-येन येन प्रकोण संवित्तौ विशुद्धात्मस्वरुपं सांमुख्येनागच्छति योगिनः तथा तथानायासलभ्या अपि रम्येन्द्रियार्था भोग्यबुद्धिं नोत्पादयन्ति। महासुखलब्धावल्पसुखकारणानां लोकेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात्। तथा चोक्तम्-

''शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः॥१॥''

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते। तद्यथा- ॥३७॥

अर्थ-ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरुपका अनुभवन होता है, त्यों-त्यों उस योगी को आसानी से प्राप्त होने वाले भी विषय अच्छे नहीं लगते।

विशदार्थ-जिस जिस प्रकार से योगी की संवित्ति में (स्वानुभवरुप संवेदन में) शुद्ध आत्मा का स्वरुप झलकता जाता है, सम्मुख जाता है, तैसे-तैसे बिना प्रयास से, सहज में ही प्राप्त होने वाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते हैं। दुनियाँ में भी देखा गया है कि महान् सुखकी प्राप्ति हो जाने पर अल्प सुख के पैदा करने वाले कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्य-भाव नहीं रहता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है - ''शमसुखशीलितमनसा०''

''जिनका मन शांति-सुख से सम्पन्न है, ऐसे महापुरुषों को भोजन से भी द्वेष हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता। फिर और विषय-भोगों की क्या चर्चा? अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। हे वत्स! देखों, जब मछली के अंगों को जमीन ही जला देने में समर्थ है, तब अग्नि के अंगारों का तो कहना ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या? वे तो जला ही देंगे। इसलिये विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्म-संवित्तिको प्रकट कर देने वाली है।''

स्वात्म-संवित्ति के अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं होती और विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर स्वात्म-संवित्ति भी बढ़ जाती है।।३७।।

दोहा- जस जस आतम तत्त्वमें, अनुभव आता जाय।।
तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय ।।३७।।

उपरिलिखित भावको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति,संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।३८।।

अन्वय-यथा यथा सुलभा अपि विषयाः न रोचन्ते तथा तथा उत्तमं तत्त्वं संवित्तौ समायाति।

अत्रापि पूर्ववद्व्याख्यानम्। तथा चोक्तम्-

''विरम१ किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः'' ।।२।।
-नाटकसमयसारकलशाः जीवाजीवाधिकारः।

प्रकृष्यमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय। यथा- ।।३८।।

अर्थ-ज्यों-ज्यों सहज में भी प्राप्त होने वाले इद्रिय विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यों-त्यों स्वात्म संवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है।

विशदार्थ-विषय-भोगों के प्रति अरुचि भाव ज्यों-ज्यों वृद्धिको प्राप्त होते हैं त्यों-त्यों योगी के स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। कहा भी है-''विरम किमपरेणा०''

---

१ 'विरम किमपरेणा०' का कितना सुन्दर भावपूर्ण सवैया स्व० कविवर बनारसीदासजीने समयसारनाटक में कहा है-
''भैया जगवासी तू उदासी व्हैकैं जगत सौं, एक छः महीना उपदेस मेरौ मानु रे। और संकलप विकलपके विकार तजि, बैठकै एकंत मन एक ठौरु आनुरे।। तेरो घट-सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे। प्रापति न व्हैहै कछु ऐसौ तू विचारतु हैं, सही व्हैहै प्रापति सरुप यौं ही जानु रे।।३।।
(अजीवद्वार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य शिष्यको उपदेश देते हैं, हे वत्स! ठहर, व्यर्थके ही अन्य कोलाहलों से क्या लाभ? निश्चिन्त हो छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर। देख, हृदयरुपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजवाली आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति) ।।३८।।

दोहा- **जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।**
तस तस आतम तत्त्व में अनुभव बढ़ता जाय।।३८।।

हे वत्स! स्वात्मसंवित्ति के बढ़ने पर क्या क्या बातें होती हैं, किस रुप में परिणति होने लगती है, आदि बातों को सुन-

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते।।३९।।

अन्वय-योगी निश्शेषं जगत् इन्द्रजालोपमं निशामयति, आत्मलाभाय स्पृहयति अन्यत्र गत्वा अनुतप्यते।

टीका-योगीत्यन्तदीपकत्वात्सर्वत्र योज्यः। स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता चराचरं बहिर्वस्तुजातमवश्योपेक्षणीयतया हानोपादानबुद्धिविषयत्वादिन्द्रजालिकोपदर्शित-सर्पहारादिपदार्थसदृशं पश्यति। तथात्मलाभाय स्पृहयति चिदानन्दस्वरुपमात्मानं संवेदयितुमिच्छति। तथा अन्यत्र स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र क्वापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादि-वशात्मनोवाक्कायैर्गत्वा व्यापृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आ कथं मयेदमनात्मीन-मनुष्ठितमिति पश्चात्तापं करोति। तथा- ।।३९।।

अर्थ-योगी समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है। आत्मस्वरुप की प्राप्ति के लिये अभिलाषा करता है। तथा यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाता, या लग जाता है तो पश्चात्ताप करता है।

विशदार्थ-श्लोक नं० ४२ में कहे गये ''योगी योगपरायणः'' शब्द को अन्त्यदीपक होने से सभी ''निशामयति स्पृहयति'' आदि क्रियापदों के साथ लगाना चाहिये। स्वात्म-संवेदन करने में जिसे आनन्द आता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्थावर, जंगमरुप समस्त बाहरी वस्तु-समूह को त्याग और ग्रहणविषयक बुद्धि का अविषय होने से अवश्य उपेक्षणीय रुप इन्द्रजालिया के द्वारा दिखलाये हुए सर्पहार आदि पदार्थों के समूह के समान देखता है तथा चिदानन्द-स्वरुप आत्मा के अनुभव की इच्छा करता है और अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु में पहिले संस्कार आदि कारणों से यदि मनसे, वचन से वा काय से प्रवृत्ति कर बैठता है, तो वहाँ से हटकर खुद ही पश्चात्ताप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है, कि ओह! यह मैंने कैसे आत्मा का अहित कर डाला ॥३९॥

दोहा- इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात।
अन्य विषय में जात यदि, तो मन में पछतात ॥३९॥

आत्मानुभवी के और भी चिह्नों को दिखाते हैं-

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥

अन्वय-(योगी) निर्जनं जनितादरः एकान्तसंवासं इच्छति निजकार्यवशात् किञ्चिदुक्त्वा द्रुतं विस्मरति।

टीका-एकान्ते स्वभावतो निर्जने गिरिगहनादौ संवासं गुर्वादिभिः सहावस्थानमभिलषति। किंविशिष्टः सन्, जनितादरो जनमनोरञ्जनचमत्कारिमन्त्रादि-प्रयोगवार्त्तानिवृत्तौ कृतप्रयत्नः। कस्मै निर्जनं जनाभावाय स्वार्थवशाल्लाभा- लाभादिप्रश्नार्थं लोकमुपसर्प्यन्तं निषेध्यमित्यर्थः। ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः। तथा चोक्तम्-

''गुरुपदेशमासाद्य, समभ्यस्यन्ननारतम्।
धारणासौष्ठवाध्यानप्रत्ययानपि पश्यति'' ॥८७॥-तत्त्वानुशासनम्

तथा स्वस्वावश्यकरणीयभोजनादिपारतन्त्र्यात्किंचिदल्पमसमग्रं श्रावकादिकं प्रति अहो इदमिति अहो इदं कुर्वन्नित्यादि भाषित्वा तत्क्षण एव विस्मरति। भगवन् किमादिश्यत इति श्रावकादौ पृच्छति सति न किमप्युत्तरं ददाति। तथा-

अर्थ-निर्जनताको चाहने वाला योगी एकान्तवास की इच्छा करता है, और निज कार्य के वश से कुछ कहे भी तो उसे जल्दी ही भुला देता है।

विशदार्थ-लोगों के मनोरंजन करने वाले चमत्कारी मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग करने की वार्त्ताएं न हुआ करें, इसके लिये अर्थात् अपने मतलब से लाभ-अलाभ आदिक के प्रश्न पूछने के लिये आने वाले लोगों को मना करने के लिये किया है प्रयत्न जिसने ऐसा योगी स्वभाव से ही जनशून्यं ऐसे पहाड़ों की गुहा-कन्दरा आदिकों में गुरुओं के साथ रहना चाहता है। ध्यान करने से लोक चमत्कारी बहुत से विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है- ''गुरुपदेशमासाद्य०''

''गुरु से उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहने वाला, धारणाओं में श्रेष्ठता प्राप्त हो जाने से ध्यान के अतिशयों को भी देखने लग जाता है।'' अपने शरीर के लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक, उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वश से कुछ थोड़ा सा श्रावकादिकों से ''अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि'' कहकर उसी क्षण भूल जाता है। भगवन्! क्या कह रहे हो? ऐसा श्रावकादिकों के द्वारा पूछे जाने पर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता। तथा- ।।४०।।

दोहा- निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार।
निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार।।४०।।

ब्रुवन्नपि हिन ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति।।४१।।

अन्वय-स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु ब्रुवन् अपि न ब्रूते, गच्छन् अपि न गच्छति पश्यन् अपि न पश्यति।

टीका-स्थिरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वस्वरुपो योगी संस्कार-वशात्परोपरोधेन ब्रुवन्नपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति ह्यपिशब्दार्थः। न ब्रूते हि न भाषत एवं। तत्राभिमुख्याभावात्। उक्तंच-

''आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्क्रयाभ्यामतत्परः'' ।।५०।।-समाधिशतकम्

तथा भोजनार्थं व्रजन्नपि न व्रजत्यपि। तथा सिद्धप्रतिमादिकमवलोकयन्नपि नावलोकयत्येव। तुरेवार्थः। तथा- ।।४१।।

अर्थ-जिसने आत्म-स्वरुप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है।

विशदार्थ-जिसने अपने को दृढ़ प्रतीतिका विषय बना लिया है, ऐसा योगी संस्कारों के वशसे या दूसरों के संकोच से धर्मादिक का व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोल रहा है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उनको बोलने की ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता है। कहा है-''आत्मज्ञानात्परं कार्यं०''

''आत्म-ज्ञान के सिवा दूसरे कार्य को अपने प्रयोग में चिरकाल-तक ज्यादा-देरतक न ठहरने देवे। किसी प्रयोजन के वश यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्पर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीर के द्वारा करे। इसी प्रकार भोजन के लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रतिमादिकों को देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिये। फिर- ।।४१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोहा- **देखत भी नहिं देखते, बोलत बोलत नाहिं।**
दृढ़ प्रतीत आतममयी, चालत चालत नाहिं ॥४१॥

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

अन्वय-योगपरायणः योगी किम् इदं, कीदृशं, कस्य, कस्मात्, क्व इति अविशेषयन् स्वदेहम् अपि न अवैति।

टीका-इदमध्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं किं किंरुपं कीदृशं केन सदृशं कस्य स्वामिकं कस्मात्कस्य सकाशात्क्व कस्मिन्नस्तीत्यविशेषयन् अविकल्पयन्सन् योगपरायणः समरसीभावमापन्नो योगी स्वदेहमपि न चेतयति का कथा हिताहितदेहातिरिक्तवस्तुचेतनायाः। तथा चोक्तम्-

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यन्न किंचनाभाति, स्वमेवात्मनि पश्यतः'' ॥१७२॥-तत्त्वानुशासनम्

अत्राह शिष्यः- कथमेतदिति। भगवन् विस्मयो मे कथमेतदवस्थान्तरं संभवति। गुरुराह-धीमन्निबोध ॥४२॥

अर्थ-ध्यान में लगा हुआ योगी यह क्या है? कैसा है? किसका है? क्यों है? कहाँ है? इत्यादिक विकल्पों को न करते हुए अपने शरीर को भी नहीं जानता।

विशदार्थ-यह अनुभव में आ रहा अन्तस्तत्त्व, किस स्वरुप वाला है? किसके सदृश है? इसका स्वामी कौन है? किससे होता है? कहाँ पर रहता है? इत्यादिक विकल्पों को न करता हुआ किन्तु समरसीभावको प्राप्त हुआ योगी जो अपने शरीर तक का भी ख्याल नहीं रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीर से भिन्न वस्तुओं की चिन्ता करने की बात ही क्या? जैसा कि कहा गया है-''तदा च परमैका०''

यहाँ पर शिष्य कहता है कि भगवत्! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा का हो जाना कैसे सम्भव है?

उस समय आत्मा में आत्मा को ही देखने वाले योगी को बाहिरी पदार्थों के रहते हुए भी परस एकाग्रता होने के कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता है ॥४२॥

दोहा- **क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम।**
तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम ॥४२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कहते हैं, धीमन्! सुनो, समझो-

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुमे रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति॥४३॥

अन्वय-यो यत्र निवसन् आस्ते स तत्र रतिं कुरुते यो यत्र रमते स तस्मान्न गच्छति।

टीका-यो जनो यत्र नगरादौ स्वार्थे सिद्ध्यङ्गत्वेन बद्धनिर्बन्धवास्तव्यो भवन् तिष्ठति स तस्मिन्नन्यस्मान्निवृचित्तत्त्वंन्निर्वृतित्वं लभते। यत्र यश्च तथा निर्वाति स ततोऽन्यत्र न यातीति प्रसिद्धं प्रतीतम्। अतः प्रतीहि योगिनोऽध्यात्मं निवसतोऽननुभूतापूर्वानन्दानुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति। अन्यत्राप्रवर्त्तमानश्चेदृक् स्यात्- ॥४३॥

अर्थ-जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वहा वहाँ रमने लग जाता है। और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँ से फिर हटता नहीं है।

विशदार्थ-जो मनुष्य, जिस नगरादिक में स्वार्थ की सिद्धिका कारण होने से बन्धुजनों के आग्रह से निवासी बनकर रहने लग जाता है, वह उसमें अन्य तरफ से चित्त हटाकर आनन्द का अनुभव करने लग जाता है। और जो जहाँ आनन्द का अनुभव करता रहता है, वह वहाँ से दूसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते हैं। इसलिये समझो कि आत्मा में अध्यात्म में रहने वाले योगी अननुभूत (जिसका पहिले कभी अनुभव नहीं हुआ) और अपूर्व आनन्द का अनुभव होते रहने से उसकी अध्यात्म के सिवाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती ॥४३॥

दोहा- **जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय।**
जो जामें रम जात है, सो ता तज नहिं जाय॥४३॥

जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है? उसे आगे के श्लोक में आचार्य कहते हैं-

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु, बध्यते न विमुच्यते॥४४॥

अन्वय-अगच्छन् तद्विशेषाणां अनभिज्ञश्च जायते अज्ञाततद्विशेषस्तु न बध्यते, विमुच्यते।

टीका-स्वात्मतत्त्वनिष्ठोऽन्यत्र अगच्छन्नप्रवर्तमानस्तस्य स्वात्मनाऽन्यस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देहादविशेषाणां सौन्दर्यासौन्दर्यादिधर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता च भवति। अज्ञाततद्विशेषः पुनस्तत्राजायमानरागद्वेषत्वात्कर्मभिर्न बध्यते। किं तर्हि! विशेषेण व्रताद्यनुष्ठातृभ्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते। किं च ॥४४॥

अर्थ–अध्यात्म से दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिक की सुन्दरता असुन्दरता आदि धर्मों की ओर विचार नहीं करता। और जब उनके विशेषों को नहीं जानता, तब वह बंधकों प्राप्त नहीं होता, किन्तु विशेष रुपसे छूट जाता है।

विशदार्थ–स्वात्मतत्त्व में स्थिर हुआ योगी जब अध्यात्म से भिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तब उस स्वात्मा से भिन्न शरीरादिके सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि विशेषों से अनभिज्ञ हो जाता है। और जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं करता, तब उनमें राग-द्वेष पैदा न होने के कारण कर्मों से बँधता नहीं है, किन्तु व्रतादिकका आचरण करने वालों की अपेक्षा भी कर्मों से ज्यादा छूटता है ॥४४॥

दोहा– **वस्तु विशेष विकल्प को, नहिं करता मतिमान।**
स्वात्मनिष्ठता से छुटत, नहिं बँधता गुणवान॥४४॥

और भी कहते हैं–

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥४५॥

अन्वय–परःपरः ततो दुःखं, आत्मा आत्मा एव ततः सुखम् अतएव महात्मानः तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।

टीका–परो देहादिरर्थः पर एव कथंचिदपि तस्यात्मीकर्त्तुमशक्यत्वात्। यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्यारोप्यमाणो दुःखमेव स्यात्तद्द्वारत्वाद् दुःखनिमित्तानां प्रवृत्तेः। तथा आत्मा आत्मैव स्यात्। तस्य कदाचिदपि देहादिरुपत्वानुपादानात्। यतश्चैवं ततस्तस्मात्सुखं स्याद्दुःखनिमित्तानां तस्याविषयत्वात्। यतश्चैवम् अत एव महात्मानस्तीर्थकरादयस्तन्निमित्तमात्मार्थं कृतोद्यमा विहिततपोनुष्ठानाभियोगा संजाताः। अथ परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयति– ॥४५॥

अर्थ–दूसरा दूसरा ही है, इसलिये उससे दुःख होता है, और आत्मा - आत्मा ही है, इसलिये उससे सुख होता है। इसीलिये महात्माओं ने आत्मा के लिये ही उद्यम किया है।

विशदार्थ–पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरह से उन्हें आत्मा या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता। जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्मा के मान लेने से) दुःख ही होगा। कारण कि दुःख के कारणों की प्रवृत्ति उन्हीं के द्वारा हुआ करती है। तथा आत्मा आत्मा ही है, वह कभी देहादिकरुप नहीं बन सकता। जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। कारण कि दुःख के कारणों को वह अपनाता ही नहीं है। इसीलिए तीर्थंकर आदिक बड़े-बड़े पुरुषों ने आत्मा के स्वरुप में स्थिर होने के लिये अनेक प्रकार के तपों के अनुष्ठान करने में निद्रा आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उत्तम किया ।।४५।।

दोहा- **पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय।**
महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय।।४५।।

परद्रव्यों में अनुराग करने से होने वाले दोष को दिखाते हैं-

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं, यो भिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुञ्चति।।४६।।

अन्वय-यः अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं अभिनन्दति तस्य जन्तोः तत् चतुर्गतिषु सामीप्यं जातु न मुञ्चति।

टीका-यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहादिकमभिनन्दति श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोर्जीवस्य तत्पुद्गलद्रव्यं चतसृषु नारकादिगतिष सामीप्यं प्रत्यासत्तिं संयोग संयोगसंबन्धं जातु कदाचिदपि न त्यजति। अथाह शिष्यः- स्वरुपपरस्‌ किं भवतीति सुगम्। गुरुराह- ।।४६।।

अर्थ-जो हेयोपादेयके स्वरुपको न समझने वाला, शरीरादिक पुद्गल द्रव्यको आप (आत्म) रुप तथा अपने को (आत्मा के) मानता है, उस जीवके साथ नरकादिक चार गतियों में वह पुद्गल अपना सम्बंध नहीं छोड़ता है, अर्थात् भव-भवमें वह पुद्गलद्रव्य जीवके साथ बँधा ही रहता है। उससे पिंड नहीं छूत पाता।।४६।।

दोहा- **पुद्गल को निज जानकर, अज्ञानी रमजाय।**
चहुँगति में ता संगको, पुद्गल नहीं तजाय ।।४६।।

आत्मस्वरुप में तत्पर रहने वाले को क्या होता है?

आचार्य कहते हैं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Ņaria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

अन्वय–आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थितेः योगिनः योगेन कश्चित् परमानन्दो जायते।

टीका–आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्बहिःस्थितेः बाह्यस्य योगिनो ध्यातुर्योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचामगोचरः परमोऽनन्यसंभवी आनन्दः उत्पद्यते। तत्कार्य–मुच्यते– ॥४७॥

अर्थ–देहादिकसे हटकर अपने आत्मा में स्थित रहने वाले तथा प्रवृत्ति–प्रवृत्ति–लक्षणवाले व्यवहार से बाहर दूर रहने वाले ध्यानी योगी पुरुष को आत्म–ध्यान करने से कोई एक वचनों के अगोचर परम जो दूसरों को नहीं हो सकता ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है ॥४७॥

दोहा– **ग्रहण त्याग से शून्य जो, निज आतम लवलीन।**
योगीको हो ध्यान से, कोई परमानन्द नवीन॥४७॥

उस आनन्द के कार्य को बताते हैं–

आनन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम्
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुखेष्वचेतनः ॥४८॥

अन्वय–(सः) आनन्दः उद्धं कर्मेन्धनम् अनारतं निर्दहति योगी असौ च बहिर्दुःखेषु अचेतनः न खिद्यते।

टीका–स पुनरानन्द उद्धं प्रभूतं कर्मसंततिं निर्दहति। वह्निरिन्धनं यथा। किं च असावानन्दाविष्टो योगी बहिर्दुःखेषु परीषहोपसर्गक्लेशेषु अचेतनोऽसंवेदनः स्यात्तत एव न खिद्यते नसंक्लेशं याति। यस्मादेवं तस्मात्– ॥४८॥

अर्थ–जैसे अग्नि, ईन्धन को जला डालता है, उसी तरह आत्मा में पैदा हुआ परमानन्द, हमेशा से चले आए प्रचुर कर्मों को अर्थात् कर्म–सन्ततिको जला डालता है, और आनन्द सहित योगी, बाहिरी दुःखों के–परीषह उपसर्ग–संबंधी क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है। जिससे खेदको (संक्लेशको) प्राप्त नहीं होता ॥४८॥

दोहा– **निजानंद नित दहत है, कर्मकाष्ठ अधिकाय।**
बाह्य दुख नहिं वेदता, योगी खेद न पाय॥४८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिये–

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।।४९ ।।

अन्वय–अविद्याभिदुरं महत् परं ज्ञानमयं ज्योतिः मुमुक्षुमिः तत् प्रष्टव्यं तत् एष्टव्यं तद् द्रष्टव्यम्।

टीका–तदानन्दस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभासात्मकं परमुत्कृष्टमविद्याभिदुरं विभ्रमच्छेदकं महत् विपुलम् इन्द्रादीनां पूज्यं वा ज्योतिः प्रष्टव्यं मुमुक्षुभि–र्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्त व्यम्। तथा तदेव एष्टव्यं अभिलषणीयं तदेव च द्रष्टव्यमनुभवनीयम्। एवं व्युत्पाद्य विस्तरतो व्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः सूरिरिदमाह किं बहुनेति। हे सुमते किं कार्य बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः संक्षेपणापि प्राज्ञचेतसि निवेशयितुं शक्यत्वादिति भावः ।।४९ ।।

अर्थ–अविद्याको दूर करने वाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है सो मुमुक्षओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसी के विषय में पूछना चाहिये, उसी की वांछा करनी चाहिये, और उसे ही अनुभव में लाना चाहिये।

विशदार्थ–वह आनन्द स्वभावशाली, महान् उत्कृष्ट, विभ्रमको नष्ट करने वाली, स्वार्थ को प्रकाशन करने वाली, अथवा इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है। मोक्ष की इच्छा रखने वालों को चाहिये कि वे गुरु आदिकों से उसी के विषय में पूछ–ताछ करें। तथा उसी को चाहें एवं उसी का अनुभव करें।।४९ ।।

दोहा– **पूज्य अविद्या–दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार।**
मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार।।४९ ।।

इस प्रकार शिष्यको विस्तार के साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणा से उस कहे हुए अर्थस्वरुप को संक्षेप के साथ शिष्य के मनमें बैठाने की इच्छा से कहते हैं कि ''हे सुमते–अच्छी बुद्धिवाले! बहुत कहने से क्या? हेय–उपादेय तत्त्वों को संक्षेप में भी बुद्धिमानों के हृदयों में उतारा जा सकता है। उन्हें साररुप भें बतलाया जा सकता है।''

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य, इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचिच्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।५० ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वय–जीवःअन्यः, पुद्गलश्च अन्यः इति असौ तत्त्वसंग्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्यैव विस्तरः अस्तु।

टीका–जीवो देहादेर्भिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव असौ विधीयते आत्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात्। यत्पुनरितस्तत्त्व– संग्रहादन्यदतिरिक्तं किंचिद्भेदप्रभेदादिकं विस्तररुचिशिष्यापेक्षऽयाचार्यैरुच्यते स तस्यैव विस्तरो व्यासो यस्तु तमपि वयमभिनन्दाम इति भावः ।।५०।।

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारंपर्येण च फलं प्रतिपादयति–

अर्थ–'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है,' बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है, इसी में सब कुछ आ गया। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसी का विस्तार है।

विशदार्थ–'जीव' शरीरादिक से भिन्न है 'शरीरादिक' जीव से भिन्न है बस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरुप तत्त्वका सम्पूर्ण रुप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्त्व–संग्रह के सिवाय भेद–प्रभेद आदिक विस्तार में सुनने की रुचि–इच्छा रखने वाले शिष्यों के लिये आचार्यों ने कहा है, वह सब इसी का विस्तार है। इसी एक बात को 'जीव जुदा है, और पुद्गल जुदा है,' समझाने के लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।।५०।।

दोहा– **जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्वका सार।**
अन्य कछू व्याख्यान जो, याही का विस्तार।।५०।।

आचार्य शास्त्र के अध्ययन करने का साक्षात् और परम्परा से होने वाले फल को बतलाते हैं–

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः।।५१।।

अन्वय–इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रियम् उपयाति।

टीका–इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्षस्तदुपायत्वाच्च स्वात्मध्यानम् उपदिश्यते यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा इष्टोपदेशों नाम ग्रन्थस्तंसम्यग्व्यवहारनिश्चयाभ्यामधीत्य पठित्वा चिन्तयित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भव्योऽनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्यो जीवः मुक्तिश्रियमनन्तज्ञानादिसंपदं निरुपमामनौपम्यां प्राप्नोति। किं कुर्वन्मुक्तग्रहो वर्जितबहिरर्थाभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने वाऽरण्ये विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन्। किं कृत्वा, वितन्य विशेषेण विस्तार्य। कां, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वखण्डने समतां रागद्वेषयोरभावम् कस्माद्धेतोः, स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिन्तनजनितादात्मज्ञानात्। उक्तंच- ॥५१॥

''यदा मोहात्प्रजायेते, रागद्वेषौ तपस्विनः।

तदैव भावयेत्सवस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्'' ॥३९॥-समाधिशतकम्

अर्थ-इस प्रकार 'इष्टोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहित की परीक्षा करने में दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञान से मान और अपमान में समता का विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वन में विधिपूर्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्ति रुपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

विशदार्थ-इष्ट कहते हैं सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यान को। इस इष्टका उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसलिये इस ग्रन्थ को कहते हैं 'इष्टोपदेश'। इसका भली प्रकार व्यवहार और निश्चय से पठन एवं चिन्तन करके हित और अहित की परीक्षा करने में चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं-इस इष्टोपदेश के अध्ययन-चिन्तन करने से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से मान-अपमान में राग-द्वेषको न करना रुप समता का प्रसार कर नगर-ग्रामादिकों में अथवा निर्जन-वन में विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है बाहिरी पदार्थों में मैं और मेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्तज्ञानादि गुणों को और सम्पत्ति रुप मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है ''यदा मोहात्प्रजायेते०'' ॥

जिस समय तपस्वीको मोहके उदय से मोहके कारण राग-द्वेष पैदा होने लगें, उस समय शीघ्र ही अपने में स्थित आत्मा की समता से भावना करे, अथवा स्वस्थ आत्मा की भावना भावे, जिससे क्षणभर में वे राग-द्वेष शान्त हो जावेंगे॥५१॥

दोहा- **इष्टरुप उपदेश को, पढ़े सुबुद्धी भव्य,**
मान अमान में साम्यता, निज मन से कर्तव्य।
आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा वन में सु वसेय,
उपमा रहित स्वमोक्ष श्री, निजकर सहजहि लेय ॥५२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे इस ग्रन्थ के संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजी कहते हैं कि–

प्रशस्ति

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना। इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता॥

अर्थ–विनयचन्द्र नामक मुनिके वाक्यों का सहारा लेकर भव्य प्राणियों के उपकार के लिये मुझ आशाधर पंडितने यह 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ की टीका की है।

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भा शास्त्रसंदर्भगर्भाः, शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः॥२॥

अर्थ–सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्र से विनयचन्द्र हुए जो कि उपशम की (शांतिकी) मानो मूर्ति ही थे, तथा सज्जन पुरुषरुपी चकोरों के लिये चन्द्रमाके समान थे और पवित्र चारित्र वाले जिन मुनि के अमृतमयी तथा जिसमें अनेक शास्त्रों की रचनाएँ समाई हुई हैं, ऐसे उनके वचन जगत को तृप्ति व प्रसन्नता करने वाले हैं।

जयन्ति जगतीवन्द्या, श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्रयः।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः॥३॥

अर्थ–जगद्वंद्य श्रीमान् नेमिनाथ जिनभगवान के चरणकमल जयवन्त रहें, जिनके आश्रय में रहने वाली धूलि भी राजाओं के मस्तकपर जा बैठती है।

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचित इष्टोपदेशः समाप्तः।

इस प्रकार श्रीपूज्यपादस्वामी के द्वारा बनाया हुआ 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ।

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मराठी साधारण संशोधन है।

परिशिष्ट नं०१

श्रीपूज्यपादस्वामीकृत श्लोकांचा श्रीअज्ञात कविकृत मराठी पद्यानुवाद

इष्टोपदेश

कर्मा समूळ नाशुनि प्रगटविती जे स्वयं स्वभावातें[1]।
वंदन त्या ओहो माझे सम्यग्ज्ञान-स्वरुपिं आत्म्यातें।। १

स्वर्णजयें बनेंत हो त्या दगडांतून मानिती कनक।
आत्मत्व मिळवि आत्मा होता द्रव्यादि चार तैं एक।। २

व्रत सुरपद दे म्हणुनी इष्टचि परि अव्रतें मिळें नरक।
छायेंत मित्र जेवीं बघत उभे वाट आतपीं[2] एक।। ३

ज्या चिंतवितां लाभे शिव, त्यातें स्वर्ग दूर किति राही।
क्रोशार्द्धें खेद कसा, जो सहजचि भार कोस दों नेई।। ४

स्वर्गिय सुरसुख असतें निरोगि ते [3]अक्षजन्य नाकांत[4]।
बहुकाळ भोगतां येतें सुख त्यानांच योग्य लोकांत।। ५

फक्त वासना असती संसारीचे जगांत सुख-दुःख।
दाविति आपत्कालीं रोगासम अक्षभोग भय देख।। ६

संवृत[5] मोहे ज्ञान न जाणी द्रव्यस्वभाव, मत्त बने।
द्रव्यें मद्योत्पादक पदार्थभावा तसा न नर जाणें।। ७

घर,धन, शरी, दारा शत्रू मित्रादि पुत्र वस्तूंना।
अन्यस्वभाविं सगळें परि मानी मूढ आपुले त्यांग।। ८

निशिं खग येउनि बसती, दिग्देशांतुन नगानगावरती।
निज निजकार्यवशें ते देशोदेशीं उजाडतां जाती।। ९

केविं विराधक[6] मारित त्यातें, करि त्या जनावरी कोप।
त्र्यंगुलपदीं[7] धरोनी पांड़ी, दण्डे पडे अपोआप।। १०

---

१ मूल स्वरुपवाला २ उन्हांत ३ इन्द्रियजन्य ४ स्वर्गात ५ वेष्टित ६ बदला घेणारा ७ एक माती खांणेचें यंत्र अर्थात् कुदाल फावणे या सारखे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागद्वेषें मथितां कर्माचें बध निघेचि नवनीत[८]।
जीवात्मा अज्ञानें त्या चिर संसार-सागरीं भ्रमत ।। ११

विपदा भवपथवर्ती[९] पथिकेसम जाति सारली दूर।
जोंवरि तोंवरि दुसरी विपदा, जीवासमोर ये प्रचुर ।। १२

रक्षाया मिळवाया धनादि नश्वर कठीण जे असती।
मानी सुखी तयें नर पिउनि घृता ज्वर हरावया बघती ।। १३

इतरांसम अपणातें येति विपत्ति न विचार मूढांस।
पशु जळती वनिं बघुनी तरूवर बसुनि न विचारि निजनाश ।।१४

आयुक्षय धनवृद्धिस कारण निर्गमन होय कालाचे।
तत्प्रेमी धनिकातें जीवाहुन अधिक इष्ट पैशाचे ।। १५

निर्धन करि धनसंचय, कर्मा श्रेयेंचि प्राप्त त्यागाया।
स्नान करावें म्हणुनी पंके[१०] लिंपन करीच देहा या ।। १६

आरंभिं तपदायक मिळतां अतृप्ति वाढते जाण।
भोरन, हेयभोगी अधिकचि भोगील तो सुधी कवण? ।। १७

ज्याच्या संगतिनें जगिं बनती वस्तूं पवित्र अपवित्र।
त्या इच्छिणें वृथा हो काया संतत अपाय जी करित ।। १८

उपकारक जें जीवा अपकारक तेंच होय देहास।
जें उपकारक होतें अपकारक तें ठरेचि जीवास ।। १९

चिंतामणि दिव्य तसा खंड[११] पेंडिचा तथापि निःसार।
लाभति उभयध्यानें कोणा बुध मानतील बघ सार[१२] ।। २०

स्वानुभवें तो प्रगटे प्राप्त देह सम जया असे मान[१३]।
अत्यंत सुखी आत्मा लोकालोकावलोकिं बघ जाण ।। २१

एकाग्रमनें इंद्रिय-विषयातें त्यजुनि संयमें जगतीं।
आत्मज्ञानी आत्मा आत्म्यामाजीं बसे तय चिंती। २२

अज्ञभक्ति अज्ञाना जन्मा ज्ञानभक्तिदे दान।
जें ज्या जवळीं तो तें जगिं दे प्रख्यात हें असे वचन ।। २३

अध्यात्म्याच्या योगें परीषहादिक न तेच अनुभवतां।
आस्रव निरोधिकर्मा येइ निर्जरा सुशीघ्र कीं सुगतां१४ ।। २४

---

८ लोणी ९ संसारांत पदोंपदी येणारी १० चिखलानें ११ तुकडा १२ श्रेष्ठ १३ प्रमाण
१४ सद्‌बुद्धिशाली, केवलज्ञानी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्ता चटईचा मी यांतचि संबंध भिन्न दोघांचा।
ध्यान ध्येयचि आत्मा केवीं संबंध भिन्न वद त्यांचा।। २५

मोही कर्मा बांधी निर्मोही तो तयांतुनी सुटत।
म्हणुनी सगळ्या यत्नें निर्मम भावास भावणें सतत।। २६

निर्मोहि एकटा मी विशुद्ध योगींद्रगोचर[१५] ज्ञानी।
बाह्यभाव संयोगज ते मजहुन बाह्य उर्व तूं जाणी।। २७

प्राण्या दुःख समूहा संयोगें भोगणें पडे भुवनीं।
म्हणुनी त्यजितो त्यातें सगळ्या मन वचन काय-कर्मांनीं।।२८

मातें न मरण केवीं भय ना, व्याधी कशी व्यथा होय।
मी वृद्ध न बाल न मी तरुण न हे भेद पुद्गलीं पाय।। २९

मोहें संतत सगळें म्या पुद्गल भोग भोगुनी त्यजिलें।
वद मज तत्त्वज्ञान्या त्या उच्छिष्टांत[१६] राग केविं गळें ?।।३०

कर्मचि हितकर कर्मा आत्मा आत्म्यास हो हितावह तो।
स्वस्वप्रभाव जाणुनि, स्वार्था वद कोण ना जगीं बहतो।। ३१

परोपकृति ती त्यजुनी सुज्ञासम हो स्वतास उपकारी।
दृश्यमानशा अज्ञा करि उपकार न असे परा भारी।। ३२

अभ्यासें उपदेशें गुरुच्या तो अनुभवून आत्म्यातें।
निजपर भेदा जाणुनि, भोगी चिरकाल मोक्ष सौख्यातें।। ३३

त्या ती सद् अभिलाषा इष्ट वस्तुचें तया असें ज्ञान।
आत्माच गुरु आत्म्या प्रेरक निजहित असें स्वतां जाण।। ३४

अज्ञ न असतो ज्ञाता विज्ञाता मूर्ख तो कधीं नसतो।
दुसरें निमित्त केवळ गति तें धर्मास्तिकाय जैं होतो।।. ३५

विक्षेप न मनिं वरुनी तत्वीं संस्थित बनून एकांती।
अभियोगें त्या स्वात्मिक तत्त्वा अभ्यासणें मुने जगतीं।। ३६

हें आत्मतत्त्व उत्तम स्वानुभवातें जसें जसें येतें।
विषय सुलभ ते असुनी कदां न जीवा तसें तसें रुचते।। ३७

इंद्रिय-विषय न जवीं सुलभ असोनी न रुचति पुरुषातें।
तेवीं उत्तम तत्त्वचि, रुचतें निज अनुभवास येतां तें।। ३८

---

१५ गोचर-जाणलें जातें-तें ज्ञानांत जातें तें १६ ओकून टाकलेल्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मलाभ तो इच्छी इंद्रजालसम जगास निःशेष।
बघुनी' विषयांत दुज्या रमतां, मनिं खेद होइ बहु त्यास।। ३९

इच्छुनि अतिप्रयत्नें निर्जन एकांतवासिं तो रमतो।
निजकार्यवशें किंचित् बोलुन विसरुन त्यास तो जातो।। ४०

बोलत असुनि न बोले चालत असतां कदां न तो चाले।
पाहत असुनि न पाही आत्मिक तत्त्वीं स्थिरत्व मेळविलें।।४१

कोण कुणाचे कैसें कवणें कोठें असेच हा राम।
त्यागुनि विकल्प देहा, जाणि न निजयोगि योग विश्राम।। ४१

जो जेथें वसति करी, तेथें तो जीव करितसे प्रीति।
रममाण जिथें होतो तेथुन कोठें न जात तो जगतीं।। ४३

सोडून कुठे न जाती राहि, विशेषा तदीय अनभिज्ञ।
तद्विशेष अज्ञत्वें हो बद्ध न मुक्त होय परि सुज्ञ।। ४४

पर तें पर दुःखद हो आत्म्या आत्म्येंच सौख्य मानवतें।
तद् प्राप्तिस्तव उद्यम करिती म्हणुनी महान मानव ते।। ४५

करि पुद्गल वस्तूचें अभिनंदन जो जगीं अविद्वान।
सहवास जंतुचा त्या सोंडी चारी गतींत ते कधिं न।। ४६

व्यवहार-बाह्य होउन आत्मध्यानांत होइ लव-लीन।
योगाच्या योगबळें त्या परमानंद एक घे जनन।। ४७

अधिकचि जाळि त से हा, अनंत कर्मेंधनास आनंद।
बहिरंग दुःख योगी मुळि अनुभवतां न पावतों खेद।। ४८

दूर अविद्येहुन ती ज्ञानमयी श्रेष्ठ परमशी ज्योति।
प्रश्न करी अनुभव घे विचार त्याचा करींच मोक्षार्थी।। ४९

हा संग्रह तत्त्वांचा बघ पुद्गल जीव दोन ते भिन्न।
जे अन्य जाइ कथिलें त्याचा विस्तार तो ठरे जाण।। ५०

इष्टोपदेश बुध वाचुन चिंतवून। मानापमानिं समता स्वमतें वरुन।।
मुक्तग्रहीं[१७] जनिं वनीं विधिनें बसून[१८]। मुक्तिश्रिया निरुपमा करि प्राप्त जाण।।५१

□

---

१७ मुक्तीच्या आग्रहांत १८ विधिपूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट नं०२

श्रीमत्पूज्यपादस्वामीकृत श्लोकोनो

श्रीरावजीभाई देसाई कृत श्रीमद् राजचंद आश्रम, अगाम गुजराती पद्यानुवाद

इष्टोपदेश

मंगलाचरण

अनुष्टुप छंद

अपूर्व तत्त्वदृष्टिना, दाता सद्गुरु राजने, नमी इष्टोपदेशे आ, रमुं, साधुं स्वकाजने।।

पूज्यपाद सूरिवर्ये, रच्यो इष्टोपदेश आ, रमावी आत्मवृत्ति त्यां, मोक्षार्थी श्रेय साधता।।

अवतरण

ग्रन्थारंभ

सर्व कर्मो हणी पोते, पाम्या आत्मस्वभावने, केवलज्ञानरुपी ते, नमुं सत् परमात्मने ।।१।।

स्वर्णपाषाण सुहेतु पामी सोनुं बनी रहे, सुद्रव्यादि तणा योगे, आत्मा शुद्धात्मता लहे।।२।।

व्रतो आपे सुखो स्वर्गे, अव्रतो नरके दुःखों, छांये तापे उभा बेनो, भेद मोटो अहो लखो!।।३।।

आत्मभाव यदि मोक्ष आपे स्वर्ग विसात ना, कोश बे जे लई जाये, क्रोशार्द्धे थाय म्हात ना ।।४।।

स्वर्गमां अमरोने जे सुखो इन्द्रियजन्य ए, निरामयी चिरस्थायी देवो ने योग्य भोग्य ते ।।५।।

जीवोनी वासना मात्र ए इन्द्रिय सुखो दुःखों, भोग ते रोगवत् पीडा, आपे आपत्तिमां जुओ ।।६।।

मोहाच्छादित जो ज्ञान, जाणे ते न स्वभावने, मेणो चढ्ये खुवे प्राज्ञो, शुद्धि, बुद्धि-प्रभावने ।।७।।

देह गेहादि स्त्री पुत्रो, शत्रु मित्रो धनादि तो, स्वभावे सर्वथा न्यारां, मूढ माने स्वकीय जो।।८।।

भिन्न देश दिशामांथी पक्षी आवी तरु वसे, प्रभाते सौ स्वकार्यार्थे, ऊडी जाये दिशे दिशे ।।९।।

विराधे अन्यने तुं तो, अन्य ते तुजने हणे, करे छे क्रोध त्यां शाने? वावे तेवुं जगे लणे।।१०।।

अज्ञाने राग ने द्वेष, नेतरां कष्ट नोतरे, खेंचातां, दंडवत् जीवा, भवाब्धिमां भभ्या करे।।११।।

विपत्ति एक ज्यां जाये, आवे तेवी बीजी घणी, संसारे प्राणीने एवी, घटमाळ विपत्तिनी।।१२।।

कमातां रक्षतां कष्ट धनादि नाशवंतने, सुखी तेथी गणे तो, शुं, सुख घीथी ज्वरार्तने?।।१३।।

विपत्ति अन्यनी जोतां, पोतानी न विचारतो, वने ज्यां सौ बळे प्राणी, मूर्ख वृक्षे रह्यो छतो ।।१४।।

आयु-भोगे वधे लक्ष्मी, धनिको तोय ते चही, धनार्थे आयु गाली दे, प्राणथी इष्ट श्री तहीं ।।१५।।

दान के पुण्यना नामे, निधनो धन संग्रहे, तो ते 'स्नाने थशुं शुद्ध' चही पंके वृथा पडे ।।१६।।

पमाये कष्टथी भोगो, पाम्ये तृप्ति न आपता, त्यागतां दुःख दे अंते, तेमां सुज्ञो शुंराचता?।।१७।।

जेना संगे शुचि एवा, पदार्थो अशुचि बने, ते दुःखमूर्ति देहार्थे, भोगनी चाह शुं तने?।।१८।।

आत्मने श्रेयकारी जे, देहने अपकारी ते, किंतु देहोपकारी जे, आत्माने अपकारी ते।।१९।।

दिव्य चिंतामणि एक, काचनो कटको बीजो, मळे जो ध्यानथी बन्ने विवेकी इच्छशे कयो?।।२०।।

स्पष्ट स्वानुभवे व्यक्त अक्षयी देहव्यापक, आनंद धाम आ आत्मा,लोकालोक-प्रकाशक ।।२१।।

चित्त-एकग्रता साधी, रोकी इन्द्रिय-ग्रामने, आत्मार्थी संयमी ध्यावे, आत्ममां स्थित आत्मने।।२२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानीना आश्रये ज्ञान, अज्ञथी अज्ञता मळे 'होय जेनी कने जे ते, आपे' लोकोक्ति ए फळे ।।२३।।
परीषहो जणाये ना, मग्न अध्यात्ममां थतां, आस्रवो रोकती थाये कर्मनी शीघ्र निर्जरा।।२४।।
कर्ता हुं सादडीनो त्यां छे संबंध जुदो कह्यो, ध्यान-ध्येय स्वयं आत्मा त्यां संबंध कयो रह्यो? ।।२५।।
ममताथी जीवने बंध, मुक्ति निर्ममता थकी, माटे सर्व प्रयत्ने ए, ध्यावो निर्ममता नकी।।२६।।
निर्मम एक हुं शुद्ध, ज्ञानी योगीन्द्रगोचर, सर्वे संयोगी भावो ते, स्वात्माथी सर्वथा पर ।।२७।।
दुःखना डुंगरो वेदे, जीवो संयोग कारणे, मन वाणी तनु कर्मे तजुं संयोग सर्वने ।।२८।।
मने ना मृत्यु, भीति शी? मने ना रोग, शी व्यथा? ना हुं तरुण, ना वृद्ध, बाळना पुद्गले बधां ।।२९।।
मोहथी भोगवी छोड्यां, पुद्गलो सौ फरी फरी, हवेए एंठमां मारे, ज्ञानीने शी स्पृहा वळी? ।।३०।।
कर्मो कर्महित ताके जीवो इच्छे स्वश्रेयने, स्व स्व प्रभावयोगे सौ, साधे कोण न स्वार्थने? ।।३१।।
देहादि अन्यना अज्ञ उपकारे शी वर्तना! लोकवत् स्वार्थ साधी ले, त्याज्य अन्योपकार हा! ।।३२।।
गुरुबोधे, स्वअभ्या से, स्वानुभूतिथी जाणता, आत्मा ने अन्यनो भेद, ते मुक्ति -सुख माणता।।३३।।
स्वयं सत्ती करे इच्छा, स्वयं ज्ञापक श्रेयनो, स्वयं स्वश्रेयमां वर्ते, स्वयमेव गुरु स्वनो ।।३४।।
पामे ना ज्ञानता अज्ञ, ज्ञानी ना अज्ञता ग्रहे, निमित्तमात्र बीजा तो, गतिमां धर्मवत्, बने।।३५।।
शमावी चित्तविक्षेपो, एकांते लीन आत्ममां, अभ्यासे उद्यमे योगी, सहजातमतत्त्वता।।३६।।
अनुभूति निजात्मानी, जेम जेम प्रकाशती, तेम तेम छता भोगे,स्वयं रुचि विरामती।।३७।।
जेम जेम छता भोगे, स्वयं रुचि विरामती, तेम तेम अनुभूति परात्मानी थती छती ।।३८।।
समस्त विश्वने भाले, इन्द्रजाळ समुं वृथा, आत्म-लाभ सदा इच्छे, पस्ताये परमां जतां ।।३९।।
इच्छे एकांतमां वास, चाहे निर्जनता सदा, वदे कार्यवशे किंचित् तेय शीघ्र भूली जता ।।४०।।
बोले तोये न बोले ते, चाले तोये न चालता, स्थिरता आत्मतत्त्वे जो, देखे तोये न देखता।।४१।।
विचारे ना शुं आ केवुं कोनुं क्यांथी वळी क्हीं? योगी तो योगमां लीन, देहभानेय ज्यां नहीं।।४२।।
जेमां जे वसी रहे छे, त्यां ते रति करे अति, जेमां रमणता जेनी, त्यांथी अन्यत्र ना गति।।४३।।
अन्यत्र ना गति तेथी, अन्यने ना अनुभवे, अनन्य उपयोगी ते, अंबध मुक्ति भोगवे ।।४४।।
अन्य ते अन्य,त्यां दुःख, आत्मा आत्मा ज ते सुखी,आत्मार्थे ज महात्मानी, साधना सर्वतोमुखी ।।४५।।
अज्ञ जे पुद्गलद्रव्ये राचे ते पुद्गलो पछी, तेनो पीछो तजे नांहीं कदी चतुर्गतिमहीं ।।४६।।
ध्यानमां मग्नता ज्यां त्यां, बाह्य व्यापार शून्यता, ध्यानथी योगी आस्वादे, सच्चिदानंद व्यक्तता ।।४७।।
कर्म-राशि दहे नित्य, ते आनंद हुताशन, खेद ना पामता योगी, बाह्य दुःखे अचेतन ।।४८।।
अविद्या भेदती ज्योति, परं ज्ञानमयी महा, मुमुक्षु मात्र ए पूछे,इच्छे, अनुभवे सदा ।।४९।।
आत्मा ने पुद्गलो जुदां,मात्र आ सार तत्त्वनो, अन्य जे कांई शास्त्रोक्त, आनो विस्तार ते गणो ।।५०।।

वसन्ततिलका

इष्टोपदेश मतिमान भणी यंथार्थ, मानापमान समताथी सहे कृतार्थ,
निराग्रही वन विषे जनमां वसे वा, पामे अनूप शिवसंपद भव्य तेवा।।५१।।
सद्बोध सद्गुरुतणो जीव जे उपासे, तेने निजात्म थकी पुद्गल भिन्न भासे,
स्वानुभव सहज आत्मस्वरुप राजे, ते सौख्य-धाम परमात्मपदे विराजे।।

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट नं.३

ॐ नमः

श्रीपूज्यपादस्वामिकृत

इष्टोपदेश

THE DISCOURSE DIVINE

Late Mr. Champatrai Jain, Bar-at-Law Vidyavaridhi,

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः। तस्मै संज्ञानरुपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his karmas by his own effort-to such an Omniscient Paramatman salutation is offered.

Note:- Omniscience is the attribute of the Pure and I' erfect soul, and is the most essential of divine qualities, which are all implied in it. In Jainism salutation is offered to Divinity not because the devotee expects any boons from the object of his veneration and worship, not because salutation is pleasing to Him who is the embodiment of all divine attributes, not even because such salutation is itself, in any sense, the aim and object of worship, but because, the Paramatman is the Ideal of Perfection for the devotee, who wants to realize it in His own self, and because the adoration of Him who represents the Perfection of Divinity in His own pure being is the only means of attaining to it, at Jeast in the earlier stages of the path.

योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता। द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता॥२॥

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification, in the same manner on the attainment to self-nature the impure (unemancipated) soul is also regarded as pure Spirit.

Note:- The impure ego is like gold in the state of ore, both of them possess the potentiality of attaining to purity and perfection, when rid of the adhering impurities, Smelting is the process employed to obtain pure gold from the ore, Which means the removal of the nongold that is found to be mixed up with it. A lump of ore, thus, represents pure gold plus so much dross added to it. In the same way the mancipated soul is pure Spirit plus so much filth or dirt (matter) adhering to it. Hence, when the filth is removed by a process akin to that of smelting in the case of gold, the foreign material is separated off and self-nature attained, on the emergence of the purity of sva-dravya (own substance), consequent on the elimination of constituents of the not- self. The term sra-dravya (own-substance) here includes the other three conceptions that are homogeneous with it, namely sva-kala (own-time, signifying the external states that are changing in time), sva-kshetra (own space, or self-sized i.e.,as existing in its own expanse). and sva-bhara (own-feelings or own nature, i.e., internal

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

states). These may be termed the 'sva' quartette technically. The soul that is rid of the not-self exists in its own nature with respect to the sva quartette, while the transmigrating ego is overwhelmed with the conditions and limitations imposed by the companionship of the not-self. This may be explained in a tabulated form, as follows:-

Pure Spirit.	Conditions,of existence	Impure ego.
Exists in His own substance...	Dravya...	Exists mixed with impurities of the nature of the not-self.
Is Divine all over... ...	Kshetra...	Is involved in impurities all over.
Abides in a form that is His own for ever more...	Kala...	Possesses a form that is liable to periodic changes on account of the liability to birth and death
Always enjoys the bliss and blessedness, appertaining to pure Spirit.	Bhava...	Is devoid of self-feeling, and passes a joyless, cheerless exi stence, generally.

वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्वत नारकम्। छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥

Observance of vows leads to birth in the heavens, therefore their observance is proper, the vowless life drags one to a birth in the hells, which is painful; therefore, vowlessness should be avoided; when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between their conditions; precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life regulated by the vows and of him whose life is not so regulated.

Note:-In the last verse divinity is said to be the natural attribute of the soul which arises from within its own self on the occurrence of the helpful causes of Self-realization. Naturally enough the question now arises: why should one take the trouble of oberving vows and otherwise subjecting one self to a life of austerities and hardships, considering that Divinity is actually the potential nature of the soul? Will not the supreme status be obtained without undergoing penances and without vows? The reply is given here in this verse. Painful, at times very painful, indeed, is the life which results from the non-observance of vows. One might even descend into hells which is the most undesirable condition of existence. On the other hand, the observance of vows leads to very happy and desirable conditions, including a birth in the heavens. Therefore the acharya says that the difference between the soul that is leading a well regulated life and the one whose life is not so regulated is precisely that between the condition of the man who is waiting for the arrival, of a companion in the heat of the day, exposed to hot winds and the burning glare of the sun, and of him who is also awaiting the arrival of the same p erson but in a cool and shady grove.

Metaphysically, of course, the helpful potent causes themselves include the observance of vows and the suffering of hardships at a certain stage of advancement; for without them the Karmic filth cannot be separated from the soul. But the great thing to note about the observance of vows and the suffering of hardships is this that they appear

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

to be irksome and unpleasant only when thought of or looked at from a distanec. When one is imbued with the right Faith one realises at once the necessity of a well-regulated life and actually longs for the perfection of character through suffering and self-denial. And the task dose not then appear to bd burden-some, but is cheerfully accepted as the surest means of the acquisition of that joyous. feeling of self-elevation which is dear to the heart of every aspirant on the path. That virtue is its own reward, is a saying the truth of which is not realized except by him whose life is characterized by self-imposed suffering in the name of Duty and Dharma.

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी। यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्द्धे किं स सीदति ॥४॥

The soul that is capable of conferring the divine status when meditated upon, how far can the heavens be from him? Can the man who is able to carry a load to a distance of two koses feel tired when carrying it only half a kos?

Note:- This verse is intended to settle the doubt that might now arise in the mind as to the respective merits of self-contemplation and the observance of vows, especially in regard to the ability of the former to secure a rebirth in the heavenly-regions. The answer is that the soul's contemplation can grant both moksha as well as heavens, which are much nearer so to speak; since he who can easily cover a distance of four miles without being fatigued is not likely to experience trouble in going only a mile. Self confemplation thus, is much superior to the mere observance of yours, though the latter are able to lead to heavens for the time being.

हृषीकजमनातङ्कं दीर्घकालोपलालितम्। नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव॥५॥

The happiness that is enjoyed by the residents of heavens appertains to the senses, is free from disturbance (literally, disease), enjoyable for very very long periods of time, and is without a parallel outside the heavens!

Nots:- The pleasures of a heavenly life are but sense-produced, though they are not to be found outside the heavenly region and are exceedingly delightful. The duration of the life, too, is incomparably longer in the heaven than on the earth, and it is therefore true that the heavenly pleasures are enjoyable for much longer periods than the pleasures, of this world.

वासनामात्रमेवैतत्सुखं, दुःखं च देहिनाम्। तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

The experiences of pleasures and pains of the samsari jivas (unemancipated souls) are purely imaginary; for this reason the sense-produced pleasures give rise, like disease, to uneasiness on the approach of trouble!

Note:- If the pleasures and pains of the world were not the product of imagination they would be lasting, unchanging and eternal. But we see that what is the cause of pleasures to-day becomes a source of disturbance and pain as soon as trouble arises or calamity overtakes the enjoyer. Hence the acharya points out that senseproduced pleasures and pain are purely imaginary in their nature, notwithstanding that the infatuated humanity regard them as real and run after them. By the use of the word imaginary it is not to be taken that the acharya denies the reality of the experiences altogether; what he is aiming at in reality is only an emphasis on the nature of true happiness to be described later.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि। मत्तः पुमान्पदार्थानां, यथा मदनकोद्रवैः॥७॥

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate know- ledge of the nature of things, in the same way as a person who has lost his wits in consequenec of eation intoxicating food is unable to know them properly!

Note:- Infatuations- likes and dislikes, etc.-deprive us of that purer form of mental serenity which is necessary for the acquisition of true knowledge, for, as is well known, lucidity of the intellectual faculty is clouded when the mind is strongly agitated by passions and desires and wrong convictions and beliefs.

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः। सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥८॥

All the objects, the body, the house, wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like, are quite different in their nature from the soul; the foolish man, however, looks upon them as his own!

Note:- The wise always perceive themselves as different from the objects of the world whose relations are fransient and temporary and perish after a time. The Self, however, is unperishing and eternal, and will pass away, on death, into some other form of life, leaving his newly-formed relations of a transient phase of life, in the conrse of his eternal wandering career, mourning his loss. Some times the relations depart plunging us in mourning. Hence, the acharya points out that the relations and, like them, the other objects which either leave us or are themselves left behind, on death, are all different from the Self in their nature for otherwise they will always accompany the soul and cause it pleasure at all times and under all conditions.

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसंति नगे नगे। स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥९॥

The birds gather together to pass the night, on a tree, from various places in different directions in the evening; but at the earliest moment at the break of day they depart, in the pursuit of their diverse purposes, for different places in all directions!

Note:- The world is like a tree where the birds gather together to pass the night; in the morning they are gone. In the same way friends and relations are formed in this world, as if for the night; at the break of day we part company from them, each one going his own way! Who, then, but the foolish will suffer himself to be entangled with such 'roosting-time' ties?

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति। त्र्यङ्गुलंपातयन्पद्भ्यां,स्वयं दण्डेन पात्यते॥१०॥

Why should the evil-doer become angry with him who takes revenge on him? He Who pulls down the trangura with both his feet is himself felled to the ground through its instrumentality! This is but just! It therefore, does not become one to get an gry!

Note:- The trangura is an instrument so constructed that if a man holds it with both his hands and then tries with his feet to pull it down to the ground, it will overthrow him at once. The acharya likens the action of an evil-doer to the result of pulling down the trangura. The evil one experiences at this moment form the hands of an enemy is sure enough the result of one's own evil- doing in the past. It is that evil which like the trangura has rebounded on oneself and is responsible for one's suffering. Surely, this

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

is but justice, pure and simple. Where is, then, room for anger in this? The point is tha in this world evil is caused by evil, what is experienced now as an evil, experience is sure enough the resultant of an evil act done by us in the past. The experiencer of evil is thus himself proved to be the doer of evil and the cause of his own suffering. Still it is necessary to punish the evil-doer, for otherwise it will be destructive of society and good order. The wise man should, however, so control himself that he should do his duty, but should not allow himself to be carried away by passion in its discharge. The judge, for instance, should so deport himself as to punish the prisoner who is proved to be guilty, but while doing so he should maintain his own serenity of mind and should not allow his decision to be influenced by anger. The result of anger is very harmful for the soul; it tends to undesirable conditions in the next rebirth. Hence, the judge who allows his mind to be swayed by passion will be incurring the liability for a painful hereafter, while the judge who merely discharges his duty and remains calm and collected and of an unruffled temperament will be avoiding that liability and will also be shortening his own bondage as the result of passionlessness.

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा। अज्ञातात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥११॥

Tied to the long rope intwined with (the strands of) attachments and aversions, the soul is whirled about in the ocean of samsara (transmigratory existence) for immeasurable time, led by ignorance!

Note:- Love and hatred, or attachment and aversion, are the causes of bondage and transmigration. The series of births and deaths is unending, except in the case of him who acquires Selfknowedge. Hence the statement that souls wander about in transmigration for time beyond measure. Ignorance of the real nature of the soul and the non-soul,and of happiness and what is not happiness though it may appear to be so, is the producer of loves and hatreds of embodied life. Led by these the soul comes and remains under the sway of karmic forces that drag it about in different conditions and grades of existence in the different parts of the world.

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिवाह्यते। यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः॥१२॥

The samsara (transmigratory condition) is like a wheel at a well, where before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul!

Note:- The thoughtful mind only discovers the world to be full of misery and pain in all condition, No one thinks of associating happiness with the conditions of existence in the lower grades of life. The trees are rooted to the spot and remain perpetually exposed to the inclemency of seasons; they are further subjected to all kinds of afflictions in the shape of cutting, piercing, burning, uprooting an the like. The smaller insects are destroyed by the thousand by the careless movements of their bigger fellow-beings. No ono cares for their writhings and suffering. The birds and

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

beasts and fishes are seized and devoured mercilessly by animals and men. Man himself is a constant prey to the fear of death, and lives in perpetual dread of calamity and misfortune. Those even who may be regarded as favourites of fortune are troubled with many kinds of mental and bodily troubles of their own and of their relations and friends. And at the end of a career, even where it has been the least undesirable, there is nothing more comforting than the grave or the burning pyre to look forward to. Death and the blankness of death ever stare the thinking being in the face. Human life is short and the best of its condi tions is ephemeral and fleeting; you have hardly celebrated the advent of a joy when its place is taken by affliction in some form or other. Those who are unluckly spent their whole time in cryi.. and lamentations. Their suffering ceases even to excite the pity of the passers by, by its frequency. Some of them actually experience all the excruciating horrors of hell-life without being in hell! Kings and millionaires and potentates are no exceptions; they are subject to the pain and misery which the flesh is heir to. The acharya, therefore, justly says that this world of transmigratory life is so full of suffering and pain that you have hardly got-over one affliction when its place has neen filled up with a dozen others. The wise should, Therefore, only seek to obtain release from the world to obtain nirvana where there is eternal peace and joy and life unending.

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना। स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

He Who regards himself as happy on account of the possession of wealth and other like objects of desire, that are obtained with great trouble, that require a lot of botheration in their protection and that are after all perishable, is like the fool who eats clarified butter when suffering from fever and theu thinks that he is enjoying good health!

Note:- Ghee (clarified butter) only goes to aggravate fever, so that he who eats ghee in that condition and regards himself as healthy because of his eating ghee is a big fool. Precisely the same is the case with the man who considers himself happy because he is surrounded by the objects and sources of pleasure. These, too, aggravate the heat and fever of just, and depart sooner or later without producing anything like satisfaction, that is happiness and rest and peace. The acharya, therefore, points out that it is an act of folly to regard oneself as happy when enjoying material prosperity and the like, Which, is is further pointed out, are acquired with a lot of trouble and exertion and which involve a great deal of additional trouble in guarding and protecting, and which, notwithstanding all this worry and trouble, are ultimately bound to depart, being perishable by nature.

विपत्तिमात्मनो मूढः परेबामिव नेक्षते। दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥१४॥

The fool is not warned by seeing distress overtake others; he acts like the man who, seated on the top of a tree in the midst of a burning forest, sees deer and other living things perish, but does not think that the same fate is soon to overtake him!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Note:- The acharya here gives us a true description of the individual blinded by the lusts of the world, who though surrounded by calamity and distress all round is still unable to check himself in time to turn to the true side of life, taking no warning by the fate of others.

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्। बांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम्॥१५॥

Time is the cause of the shortening of the duration of life as well as of the increase of wealth: the amassers of wealth (thus) love money more than their lives!

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः। स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति॥१६॥

The poor man who accumulates wealth so as to be able to acquire merit and the destruction; of evil karmas by spending it in charity is like the man who covers himself with flth in the expectation that he is going to bathe his body thereafter.

Note:- The acquisition of wealth is accompanied by so much evil-doing and evil-thinking that it itself implies a lot of sin accruing to the soul: what purpose can, then, be seryed by charity and good works thereafter. The man who enters a drain full of filth in the hope that he will have a good bath afterwards covers himself for a certain with filth. Whether he will be able to wash it off thereafter is an entirely different matter!

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्नतिपादकान्। अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्कामं कः सेवते सुधीः॥१७॥

What! will any wise man indulge in the pleasures of the senses which cause trouble in their acquisition, enkindle lust and desire at the moment of enjoyment and are very painful at the fime of parting? Should a wise man do so, he would not abandon himself to the lustful feeling.

Note:- According to the degree of foresight developed by them, men fall into three classes, namely, the short-sighted, the far-sighted and the farthest-sighted. The first class is that of fools, as all will agree. The second is that of men who are wordly wise. They are learned and thoughtful,but only in matters pertaining to the world, and the concerns of the immediate life that comes to an end after some three score years and ten, when their wisdom also perishes. The third Class comprises those few but deeply thoughtful souls who have understood the nature of life and know that the soul survives the physical death. They are familiar with the true nature of things and know that there is no rest or peace for the soul outside nirvana. They are the farthest-sighted, for this reason; we may also call them Dharma-sighted, for Dharma signifies the ultimate Truth and the nature of things. Of these Knowers of the true nature of things it is said that they will not indulge in sensual lusts, knowing them to be the causes of suffering and pain, though not appearing to be such to the first or the second classes of men. Should a Knower of Truth be found to indulge in the pleasures of the world, he would not abandon himself altogether to them, but would only be influenced by them in so far as he is unable to resist the forces of Rarmic infatu-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ation engendered in the past. The point is this that the knowledge of Truth changes the angle of vision of the wise one who may not be able to resist the temptation but who will detest himself all the time for his failings, where the fool will simply plunge himself head long in the whirling vortex of pleasures and lusts.

भवन्ति प्राप्त यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि। स कायः संततापायस्तदंर्थ प्रार्थना वृथा॥१८॥

By the contact of which even pure objects are rendered impure and which is a constant sourec of affliction, to seek to provide such a body with the objects of pleasure is vanity!

Note:- It is not the nature of the senses to ever attain to anything like a lasting sense of gratifcation. The source and store-house of impurity. The body may be surrounded by all sorts of luxuries and things that are expected to give one pleasure; but its cravings only increase while the things which it touches become impure for any other purpose!

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकं। यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकं॥१९॥

Whatever action is beneficial to the soul is harmfal to the body, and whatever action is beneficial to the body is harmful to the soul!

Note:- The association of the soul and the body being the cause of the pain and misery appertaining to embodied existence, nirvana really only signifies the destruction of the fleshy prison of the soul, when the latter, fully exalted and immortal in ist own right, is installed in the Temple of Divinity as a God, by the mere process of emancipation from the bondage of matter. Hence, whatever tends to the fattening of the body is necessarily the source of continued affliction to the soul and vice versa.

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य, इतः पिण्याकखण्डकम्। ध्यानेन चेदुभे लभ्ये, क्वाद्रियंताम् विवेकिनः॥२०॥

When the divine wish-fulfilling Jewel and a piece of refuse both are obtainable by meditation, which of these will the man of discrimination choose?

Note:- The man of discrimination will naturally prefer the soul which is like a divine wish-fulfilling zJewel, capable of conferring the inconceivably great boon-the status and the joy of divinity-to a passing pleasurable form of sense-tickling that is like a worthless piece of khali (a cake of sesamum seeds from hich oil has been extracted) and serves only to long and to embitter the bondage of karmas.

स्वसंवेदनसुव्यक्त स्तनुमात्रो निरत्ययः। अत्यंतसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः॥२१॥

This soul can be adequately known by self-confemplation and is of the size of its body, immortal, of an exceedingly blissful nature and the knower of Loka and Aloka!

Note:- In this sloka the acharya has given a brief description of the soul as freed from the bondage of matter. It is, roughly speaking, of the size of its physical body and is indestructible, hence immortal. Knowledge and

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

bliss appertain to it by nature, being but two of its divine attributes. It can be Known adequately in self-contemplation, and when established in its natural purity, freed from the corrupting companionship of matter, it is the enjoyer of unbounded joy and the knower of the entirety of things, which constitute what is known as the Lokaloka (Loka-the universe of life and matter-alaka-the infinity of pure space lying beyond the Loka),

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः। आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥२२॥

Controlling his senses, with concentrated mind, the knower of the Self should contemplate the Self, seated in his own Self, through the Self!

Note:- The contemplation of the divinity of the Self, that is the soul, is only possible through the soul itself, by turning the attention inwards. Now, because the self is seated in wards and the objects of the senses which attract and enthral the mind lie outwards, the withdrawal of the mind from the outside, that is to say the controlling of the lustful cravings of the lower nature, is an absolute necessity for the realisation of the glory appertaining to Life. For one cannot serve two masters at one time. The Self and the world are antagonistic in nature. The dominance of the latter means the mancipation and distress of the former. hence, the wise banish the world completely from their thoughts and attend with one-pointed mind to the glorious Divinity of the Self, seated inside.

अज्ञानोपास्तिरज्ञानम्, ज्ञानम् ज्ञानिसमाश्रयः। ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदम् वचः॥२३॥

Devotion to ignorance bestows ignorance, and devotion to Gnana (self-knowledge)bestows Knowledge: for it is well established that a thing can grant only that of which it is possessed!

Note:- False beliefs and wrong convictions can never lead to true knowledge; for you cannot get what is not contained in the nature of a thing, e.g., blood out of stones. But he who seeks knowledge is sure to be rewarded by enlightenment; for the law is that he who seeks shall find, he who asks shall get what he asks for and he who knocks shall be admitted into light, provided only the seeking, the asking and the knocking is sincere and persistent and in harmony with the nature of things.

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी। जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा॥२४॥

By bearing with equanimity, by the power of the soulforce, the trials and hardships consequent on world-renunciation, is accomplished speedily the destruction of karmas and the stoppage of further inflow thereof!

Note:- There are two aspects of the Rarmic force the drarya and the bhava karmas. Dravya karmas simply mean matter which flows into the soul with every thought and word and deed. Bhara karmas are inner mental states, that is to say feelings, cravings and the like which are the causes that lead to the inflow of matter towards the soul. The bondage of the soul consists in the state of embodiment which signifies association with matter.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The ascetic aspires to separate his soul completely from the material impurities that defile and hold it in bondage. The inflow of matter is termed asrava, and takes place only because of a certain kind of magnetic attraction which the soul developes under the influence of desire. It ceases when the soul becomes desireless completely. The matter existing in combination with the soul also then begins to dissolve and soon becomes separated from it. This is termed nirjara, in the course of which many hardships have to be faced by the aspirant. If these are cheerfully borne, the goal of freedom and bliss is reached speedily, and the soul becomes a bure and perfected God. the destruction of desire, therefore, is the key to the situation, and the acharya points out that those who preserve equanimity of mind in the mid of trials and temptations speedily attain to the Supreme Status by the stoppage of the fresh inflow and the destruction of the existing karmas.

कटस्य कर्त्ताहमिति सबंधः,स्याद् द्वयोर्द्वयोः। ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबंधः कीदृशस्तदा॥२५॥

In a statement such as 'I am the maker of the mat', two objects are implied; but where the soul itself is the instrument as well as the object of contemplation, how can there be duality in that state?

Note:- This Sloka is intended to further elucidate the nature of self-contemplation which is non-dual. There are in that state no two separate objects like a mat and the man who made it; but the object of contemplation is the same as he who contemplates. The soul in reality only contemplates its own inherent glory, so as to realize its hidden divinity. Hence acharya points out that there is no room for duality in the process of pure self-contemplation.

वध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात्। तस्मात्सर्व प्रयत्नेन, नियमत्व विचिंतयेत् ॥२६॥

The soul involved in the delusion of egoity is enmeshed in the bondage of Karmas; he who is free from delusion of egoity is freed from the bondage of karma: this is the order of things; such being the law, one should try in all possible ways to attain to pure self-contemplation, devoid of the delusion of egoity.

Note:- We have already seen that desire is the root of bondage. Here the acharya takes us a step further towards the analysis of desire, which is rooted in the delusion of identity with the body. The ordinary man c... knows himself as the physical personality. and naturally remains absorbed in the gratifications of the bodily cravings and wants. This is the delusion which the acharya warns us against.

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः। बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

I am one, I am without delusion, I am the Knower of things, I am Knowable by Master Ascetics; all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way!

Note:- The soul is here described from what is known as the nishchaya

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

naya, that is to say in respect of its pure natural attributes; in other words, as a pure spirit. The pure spirit is devoid of parts, and therefore only one; being a pure enbodiment of know-ledge, without any obstructing veils to curtail the field of its knowing functions, it is devoid of delusion; rid of all forms of defilement and corruption, it is pure; having omniscience for its attribute, it is the true knower; and not being endowed with sensible qualities, it is knowable by the super-clairvoyant vision of Great Ascetics and Saints. All the other qualities, attributes and relations which appertain to embodied existence are really produced under the corrupting influence of matter, and are, therefore, not natural to a pure Spirit.

...संदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्। त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८॥

The souls involved in transmigration have to suffer a multitude of afflictions, owing to the association of the not-Self, the body and the like: therefore, I (shall) renounce them along with all the activities of the mind, the body and speech!

Note:- He who does not ccntrol the activities of his mind, speech and body, which are the three channels of sin, only prolongs his boudage and the transmigratory life which is simply full of pain and misery, even under the best of conditions. The aspirant after the final release, Therefore, resolves in the manner indicated in the text.

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा। नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

I am not subject to death; then, what should I fear death for? Nor am I subject to disease, then, what can cause me pain? I am not a child; I am not an old man; nor am I a youth: all these appertain to the flesh (matter)!

Note:- Pure Spirit is free from death and disease, and has no concern with the divisions of life, childhood, youth, oldage and the like. These are different conditions that appertain to the body of matter, which is, undoubtedly, not the same thing as Spirit or the soul. Why should, then, one fear death? aud how can one be really affected by disease? The saint, knowing the pure immortal aud incorruptible nature of the soul speedily attains to the highest and best condition of Life which is enjoyed by all who acquire the purity of their spritual nature.

...ज्झता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः। उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

Again and again, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me; how can I long for them now that I am endowed with true wisdom; for no one likes to eat the leavings,

Note:- In the part infinity of time, during which the immortal soul has never ceased to exist, it has put on all kinds of bodies and enjoyed, again and again, the pleasures appertaining to embodied existence, through them, throwing them off always at the end of each form of life. The bodies and things of matter are thus like the leavings in a plate which nobody will like

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

to eat. The Right Believer whose vision has been clarified to perceive the true side of Life, therefore, cannot long for them, since if will be like a longing to eat the leavings and refuse.

कर्म कर्महिताबन्धि,जीवो जीवहितस्पृहः। स्वरवप्रभावभूयस्त्वो, स्वार्थे को वा न वांछति ॥३१॥

Karma works in its own cause; the soul works for its own good: who is there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so?

Note:- Since Karma produces karma, and thus is the cause of the perpethation of the soul's bondage, it is here dere described as working in its own cause, the soul also works for its own good, that is to say against the karmic power, when it is able to do so The inferests of the two thus cla with each other. The acharya here exhorts the soul that has acquired the wisdom of the saints to gird up its loins for the destruction of the enemy; forthere is no one in the world who will not like to destroy his foe when he ha s the power to do so, especially such a foe or karma, that acts by stealth and strikes merci lessly and hard.

परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव। उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत्॥३२॥

O Witless one! thou art serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce doing good to others and take to doing good to thine own Self!

Note:- It is the way of the world that one gives up serving those who are found to be inimical to oneself. The soul has been serving its physical body and the rest of the visible sensible panorama, in the belief that its good lies with the things outside itself. But it has now learnt their real nature. They are-all the ties and joys and relationships of the world, taken together- only so many enemies in disguise! The acharya, Therefore, exhorts the soul that is endowed with true insight into the nature of things to abandon them to their own fate and turn to its own welfare, that is, to take to self contemplation.

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं। जानाति यः स जानातिमोक्षसौख्यं निरंतरम्॥३३॥

He Who has acquired the discrimination between the Self and the not-Self, through the teaching of the preceptor, by repeated medi... the nature of things, or by direct inner Self-perception, that grea... enjoys the happiness appertaining to salvation constantly!

Note:- Salvation and the happiness apperfaining to it are obtained by self-contemplation, when the karmas are destroyed and the soul is left as a pure Spirit, omniscient, and blissful and immortal in its own nature.

स्वस्मिन्सदमिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः। स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥३४॥

Because of its internal longing for the attainment of the highest Ideal, because of its understanding of that Ideal, and because of its engaging

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

itself in the realisation of its Ideal, because of these the soul is its own preceptor!

Note:- The outside Teachers and guides are only helpful where the soul ifself is ripe for advancement on the path; their word is of no avail where the hearer is not open to receive it. For this reason the real teacher and guide is the sonl itself; and so far as exertion is implied in the realisation of the Ideal, it is the soul's own action which can ever lead to its advancement and progress on the path. Hence the statement that it is its own preceptor!

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति। निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥३५॥

Those not yet qualified for the acquisition of truth cannot become the knowers of Truth; the knower of Truth cannat become devoid of it; external teachers are useful like Ether which is but helpful in the motion (of moving things)!

Note:- The acharya here elucidates the nature of the teaching from an outside source. it is like ether which is helpful to the object in motion, but which does not push or move any one. Similarly an external Guide can help only the soul that has acquired a longing to proceed on the Path of Freedom; he cannot impart the impulse which is to initiate the proceeding!

अभवच्चित्तविक्षेप, एकांते तत्त्वसंस्थितिः। अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः॥३६॥

He in whose mind no disturbances occur and who is established in the knowledge of the Self,- such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in a lonely place.

Note:- The one-pointedness of the mind which is necessary for steady medition is exceedingly difficult in a place where there is even a likelihood of disturbance. Hence, it is pointed out here that self-contemplation should be performed in a lonely place.

यथा यथा समायति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्। तथा तथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि॥३७॥

As greater and greater progress is made in the realization of the glorious Self, so is lessened, more, the more,the h liking for even tose objects of pleasure which may be obtained with ease.

Note:- This sloka describes the effect of the progress in self enjoyment. It is destructive of the cravings of the lower nature. The Self is blissful by nature; he who begins to enjoy the divine thrill ef spiritual bliss certainly cannot thereafter hanker for worldly pleasure, the craving for which decreases as the enjoyment of true happiness increases.

यथा यथा न रोचंतेए विषयाः सुलभा अपि। तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥३८॥

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable, in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment!

Note:- The enjoyment of the natural inherent joy of life increases side

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

by sied with the sense of indifference for worldly pleasures. Thus the more there is of the enjoyment of the internal spirital happiness, the less is the craving for the sense-produced pleasures; and, conversely, the greater the sense of indifference for wordly attractions and joys, the greater the enjoyment of the real bli bliss appertaining to Life.

निशामयति निःशेषमिंद्रेजालोपमं जगत्। स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते॥३९॥

The seeker of the self regards the whole world as a product of illusion; and is moved by the desire to attain to self-realization. If he ever hecomes entangled in anything else he repents of it!

Note:- Self-realization is possible only by completely turning the back on the temptations and snares of the world; hence, he who longs attain to it must regard the panorama of the world as transient, instable and fleeting, in other words, as the product of illusion. The wise man will thus never allow himself to be entangled in anything Worldly. Born with all the weaknesses of the human nature, he is nevertheless subject to powerful cravings and impulsions, and may, under their influence, deviate from the proper pate. The acharya says that the true characteristic of a wise man is that when-ever he is entangled in any of the worldly pleasures, neglecting his proper dharma (duty), he will be repenting of his wrong action, even while doing it. For repentance implise confession wich is half the amends.

इच्छत्ये कांतसंवासं, निर्जनं जनितादरः। निजकार्यवशात्किंचिदुक्तवा विस्मरति ब्रुतं ॥४०॥

The seeker after the Self longs for solitude, preferring dissociation with men; if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his mind as soon as it is said!

Note:- Solitude is absolutely necessary for pure self-contemplation.

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति। स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति॥४१॥

He who has firmly established himself in the knowledge of the Self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing!

Note:-When a man has put his faith firmly in the Self his actions cease to bind, that is to say, affect him. activity in such a case ceases to be volitional and becomes automatic, as it were. Of such a being it is correct to asy that speaking he does not speak, moving about he does not move a and seeing he does not see.

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्के त्यविशेषयन्। स्वदेहमपि नावैति, योगी योगपरायणः॥४२॥

The ascetie immersed in the process of self-realization has no awareness of even his body, being undisturbed by questions such as what is the soul? what is its nature? who is its master? from whow is it derived? where does it reside? and the like.

Note:- In the culminating samadhi (the condition of entrancement of self-realization) Thought is over-powered by the thrilling pulsation of the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

joyousness of self-feeling. Consequently, no question arises as to the nature, attributes, etc., of the soul-substance. The entire soul is then filled with the rapturous rhythm of a life that is at once illumined and blissful by its own light and the inherent ecstasy of delight. In That state there can, of course, be no engrossment of the conscious faculty with the idea of the physical personality or its basis and abode, the body of matter.

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिं। यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति॥४३॥

He who abides in a place, becomes attached to the place he who takes a liking to a locality does not give it up to go elsewhere!

Note:- This is the general rule. When a person Likes a place he sticks to it and does not think of leaving it and of going to another place. Similarly, the ascetic who loves the state of the samadhi of self-realization never entertains the idea of departing from it, it being full of delicious joy and ecstasy for him.

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते। अज्ञाततद्विशेषस्तु, बद्ध्यते न विमुच्यते॥४४॥

The ascetic, not stirring out of his Self and not attending to the particular natures of the not-self, does not become their enjoyer; by not enjoying the not-self he is not bound by karmas, but becomes released from them!

Note:- The law governing karma and transmigration is this that attachment and aversion for objects of the senses are the causes fo bondage fo the soul. They cause the influx of a kind of subtle invisible matter into the soul substance, and the fusion fo the inflowing material with the soul is the form of the bondage of karma that is so harmful to the self. The soul not falling in the category of the objects of sence, its contemplation does not give rise to attachment and aversion; on the contrary, it is productive of a state of equanimity and indifference in the mind that is engaged in the enjoyment of the natural inborn joy of his own real self. Hence he is not afflicted with fresh karmic bondage while he is engaged in self-contemplation. In addition, his existing karmic bonds also begin to break up on account of the prevailing state of equanimity; because what is attracted into the soul in consequence of an agitated state of the mind must begin to di[illegible] and depart when a contrary state is established therein. The acharya, [illegible] says that the samadhi of self-feeling has a two-fold merit: it is, firstly, not productive of any additional mancipation for the soul, and, secondly, it is actually destructive of the existing bondage.

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं। अत एव महात्मानस्तन्निमितं कृतोद्यमाः॥४५॥

The not-self are surely never the Self; only sorrow accrues to the soul from them: the Self ever remains the Self; it is, therefore, the cause of happiness; because of this, great personages have exerted themselves for the realization of the Self!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Note:- The distinction between sense-produced pleasure and the natural joy appertaining to the soul itself is again emphasized here by the acharya, for what shall a man profit if he gain the whole world but lose his own soul? The fact is, as the Jainacharyas have demonstrated, over and over again, that the soul is blissful by nature and comes into the enjoyment of surpassing, unsurpassed bliss by the simple practice of self-fecling. The pleasures of the world are false and illusory, as compared with the joyousness of life itself; they even fail and deceive one in the most critical moment, Moreover, nothing in the class of the not self is lasting and unperishing, so that he who becomes attached to them has sooner or later to lament their loss. Sometimes he himself has to part from the objects of pleasure, when the parting is all the more terrible. What good can, then, come of attachment to the objects in the world? Atman (the Self) alone is, thus, the fit object of attachment, and it rewards the devotee with life eternal and knowledge and joy unlimited!

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं, योऽभिनंदति तस्य तत्। न जातु जंतोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुंचति॥४६॥

Matter Which the undiscerning soul attaches itself to never leaves him wherever he goes in the four gatis!

Note:- Gatis signify the four principal types of embodied existence, in which souls are being constantly born and reborn in the course fo their transmigration. These are the celestial, the hellish, the human and the sub-human or the lower kingdoms, the last of which includes all kinds of animals, plants and all other lower forms of life. All these are imposed on the soul because of the companionship of matter of which the not-self are chiefly composed. The law of the influx of matter has already been noticed a little earlier. It Shows that the effect of the love of the not-self on the Self is its being over-powered by matter in the shape of the undesirable forces of karma that drag it from one gati to another or in the numerous classes and sub-classes of the same type. The acharya, therefore, discourses on the folly of the undiscerning who perpetuate their bondage by their own acts, not knowing the nature of the Law that keeps the soul tied to the ever revolving wheel of transmigration. He who allows himself to fall in love with matter and all the not-self are perceived by us only in so far as they are matter should Know that the object he falls in love with will not abide to console or grant solace to his heart for ever, but matter will cling to him, because of that act of love, all the more closely! Knowing this, the seeker after the glory of the Self will shun the pursuit of the objects of the world once the law is shown to him.

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहिः स्थितेः। जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः॥४७॥

He who is firmly established in his own Self, and keeps away from the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

worldly Intercourse, a supreme kind of happiness is produced in the being of such a yogi!

Note:- Divine bliss is the nature of the soul which is realized the moment one is rid of all the sence of attachment to the world and is immersed in pure self-contemplation.

आनंदो निर्दहत्युद्धं, कर्मेंधनमनारतं। न चासौ खिद्यते योगी, बंहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

Self produced happiness is constantly burning up the karmic fuel in large quantities, while the yogi, indifferent to the external pain, is not affected by it in the least!

Note:- The Master Ascetic is constantly absorbed in the enjoyment of the spiritual happiness pertaining to his soul, and is, therefore, not affected by bodily di-comforts and pains to which he does not even attend consciously.

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत्। तत्प्रष्टव्यं, तदेष्टव्यं, तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

That excellent and supreme light of the Self is the destroyer of ignorance,-the seekers after salvation should always engage themselves in questioning others about it in affectionately seeking it and in realizing it by actual experience!

Note:- The soul being the embodiment of knowledge is antithetical to ignorance. Hence the injunction to be constantly engaged in talking and thinking of it and in feeling it in every other possible way. It will not do to turn to the Self for a moment or two once a week or even every day; for the habit of the mind is that it runs always after what has engaged its attention the most of the time. The reason why novitiates in yoga find it difficult to concentrate their mind on the Self is to be found in the fact that their habitual thinking unconsciously directs the stream of thought into the accustomed channels of activity, and the slightest temptation, which they have never learnt to resist, suffices to steal away their determination.

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य, इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥

The Self is different from matter, matter is different from the Self: this is the quintessence of all the compilations of wisdom; all the rest of knowledge is but an amplification of this!

Note:- Here the acharya sums up the result of the entire discoured and ... the one thing to know is the fact that the soul is not matter, nor matter the soul. This is the quintessence of philosophy, Though it is necessary to explain it in detail for the benefit of the ignorant who entertain many doubts on the subject. Whoever has understood this one crucial point or fact thoroughly, so that no doubt is left in his mind concerning the nature and divinity of the soul, is the knower of truth who is sure soon to reap the benefit of his knowledge, and attain to the supreme status outside the painful dreary realm of transmigration and the kingdom of Denth. For the soul being actually divine by nature, its divinity remains unrealized only just so

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

long as it is ignorant of itself and devotes all its time to the pursuit of the non-self. Hence, when Self-Knowledge has dispelled the thick mists of ignorance and set its natural energy of dispassion in opposition to the forces of karma, the destruction of the latter becomes only a question of time, and is encompassed, generally, in the course of three or four incarnations, when it is loft, as the result of the process of self-realization, as a pure Spirit, all-knowing, immortal and eternally blissful, a pure and real Divinity, second to none in the three worlds, and the object of devotion and worship on the part of devas (celestials) and men.

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां खमताद्वितन्य ॥
मुक्तग्रहो विनिवसन्सजने वने वा, मुक्ति श्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

The wise bhavya* who has well understood the teaching of the "Ishtopadesha" , and who maintains the serenity of the mind by the effort of his will when he is respected as well as when disrespect is shown to him, and who has freed himself from the attachment to the non-self, obtains the matchless treasure of moksha, whether he live in a city or in a iungle!

*The soul that is endowed with realizable potentiality for the attainment of salvation is termed bharya, while the abharya (a, not+bhavya) is the soul that is potentially divine like the bharya, but with a portentiality that is not realizable into actuality.

Note:- Faith in the glorious nature of the Self and mental equanimity are the chief things necessary for the obtainment of release from the cycle of births and deaths (transmigration). The rule with faith is that it never fails to translate itself into action, sooner or later, since belief is the builder and moulder of character, and the controller of impulses. For this reason, even the greatest sinner need not despair, and if he will be intelligently try to understand the teaching herein imparted and apply himself to put faith into it he will soon find himself travelling on the road to saintship. Whether he walk towards it or travel in some more speedy way, will depend on the nature of the obstruction that might be offered by the karmas of his previous like. But even the worst of karmas begin to lose their power under the loosening influence of the Right Faith, and are speedily destroyed by the scorching fire of Right Knowledge-Mental equanimity is speedily [illegible] in this manner, and the rest becomes easy by a constant meditation o[illegible] Ishtopadesha" Which is the Discourse Divine as well as the name of [illegible] book in the reader's hand!

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

FOREWORD

Shri Pujyapada Swami the author of the *"Ishtopadesha"* (Discourse Divine) was a Jaina saint, of the Digambara sect, who flourished in the fourth century A.D. He composed several important works on the Jaina Philosophy and Religion of which the *"Sarvartha Siddhi"* (an elaborate commentary on the *Tattvartha Sutra*, Which may be termed the Jaina Bible), *"Jainendra Vyakarana"* The *"Samadhi Shataka"* and the *"Ishtopadesa"* are the most famous. The last-named work was translated into Hindi from the original Sanskrit by Shri *Dharma-Divakar, Dharma Bhushana Brahmachari* Sital Prasadji in the year 1923. I have now translated it into English, at the suggestion of the respected *brahmachariji* himself, from his Hindi translation. The English translation has been personally revised by the *brahmachariji* to whom I am indebted for the favour.

The *" Ishtopadesha"* is a charming composition in *adhyaima-rasa,* that signifies a sort of direct appeal to the experience of self-realization rather than a metaphysical study of the soul-nature through the intellectual faculty. I have no doubt that it will prove very serviceable in fixing the attention of the contemplative thought, and, read intelligently, will enable the thoughtful to burn up his *karmas* on the *adhyatmic* altar of the Glorious Divinity of the Inner Self.

HARDOI:
17th May, 1925.

C.R.JAIN

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

CONTENTS.

I. Introduction. 118
II. Versified Sermons. 119-124
1. Obeisance. 119
2. God and Self. 119
3. Path of Peace and Piety. 119
4. Philosophy of pain and pleasure. 119
5. Ignorance the cause of all ills. 120
6. Worldly life is a chain of pains. 120
7. Wealth is no remedy for worldly ills. 120
8. Concentrated thought is the only remedy. 121
9. Self is the only thing worth realisation. 121
10. path of self realisation. 121
11. Superiority of a devotee. 121
12. The unreality of worldly life. 121
13. The Path of victory. 121
14. The unholy union. 122
15. The divinity of self. 122
16. Futility of worldly quest. 122
17. The struggle of life. 122
18. Appeal to self. 123
19. Master's role in spiritual culture. 123
20. In reality self is his own guide. 123
21. The essential requisites of a devotee.
22. Life features of a yogi. 123
23. Yogi enjoys a free life. 123
24. Self culture is the best culture. 124
25. Summum bonum of life. 124
26. Brief story of truth. 124
27. Blessings. 124

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

INTRODUCTION

ISHTOPDESHA (इष्टोपदेश) (Happy Sermons) is a didactic poem of 51 Stanzas in Sanskrit by Swami Pujyapada, a great saint of India, born in the Karnatak region in the 5th. century A.D.* He was the preceptor of Durvinit, the then ruling King of the great Ganga dynasty of the Deccan. His real name was Devanandi but being held in high esteem by all, be was renowned as Pujyapada i.e.one whose feet are worth worshipping. For his lofty thinking, pure living and high order of asceticism as described in many inscriptions and Shastras of Karnataka, he was Known as one who was untouched by earth, and whose ablution water of feet could change iron into gold

Besides being a saint of high repute, he was a great scholar and thinker of his [illegible]. For his lucid style, precise expression and masterly exposition of the subject he [illegible] held a revered place amongst all Indian writers. His works on medicine, grammar, prosody and jain philosophy, have always been regarded as works of standard value by all the subsequent scholars of India.

Amongst these works his Sarvarth Siddhi (सर्वार्थसिद्धि), a commentary on Tatvarth Sutra (तत्त्वार्थसूत्र),-a compendium of jain Metaphysics and cosmology written by Uma Swami of the first century A.D in aphorisms-is a work of rare value, being a key to this vast treasure of knowledge. Jainendra V yakarana (जैनेन्द्रव्याकरण) is an equally important work on grammar written by him.

Samadhi Shatak-(समाधिशतक) ("Equanimity") in 100 stanzas is an-other didactic poem composed by him. It is a work of about double the size of Ishtopdesha and is an outcome of his deep thinking and realisation of truth. This work undoubtedly possesses a rare spiritual charm. It provides a consolation to an afflicted mind, and an inspiring vision of the divine life to a seeker after truth.

To advance, the cultural relationship between the East and the West-a dire need of our times, I have for the present selected Ishtopdesha-"Happy Sermons", as the first offering for being presented to the western peoples in a western garb.

In order that readers who take liking to these sermons, may remember them by heart, the translation has been done in a versified form, stanza for stanza, but where the literal and formal translation of a stanza was unintelligible to convey the full substance of the pithy sayings and abstruse ideas condensed in it, a free and liberal style has been applied to expand it into several stanzas. Though taking this freedom with the style, the matter has been arranged in the same order as has been adopted by the original author. Every stanza of the original poem. Whether rendered singly or in an expanded form has been numbered in its serial order on the left hand side, while the verses of this expanded composition have been numbered on the right hand side of the margin. Headings have been newly inserted to show the themes of the succeeding verses.

As to how far I have been able to fill up these verses with spirit which the saint [illegible] to convey through these sermons, is to be judged by the fancy, bestowed by [illegible]ders on this composition. In case it bears good fruits I shall try to offer Samadhi Shatak also in its versified form as a next contribution to the noble cause of strengthening the cultural relations between the East and the West.

The original text of the poem in Sanskrit has also been printed in this publication so the lovers of oriental studies have a facility of consulting it, and enjoying the original work of the master poet.

Panipat
Mahavir Jayanti 1954

Jai Bhagwan Jain
Advocate

*B. Lewis Rice-Journal of Royal Asiatic Society 1890/245 ff.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट नं.४

HAPPY SERMONS.

Mr. JAI BHAGWAN JAIN, B.A.LL B.

Obeisance,

1. I bow to the all knowing Lord, By total extinction of all flaws,
Who shone forth into purest glow, And paved for all, salvation path. 1

God and Self.

2. God is self and self is God, Both are one like ore and gold, का.
The difference lies in their modes, The pure is one, the other impure. –
As ore transforms into gold, When released from foreign things,
So self does evolve into God, When released from matter's strings. 3
Self is gripped by foreign matter, When tinged with egotistic trends,
And gets relieved from its meshes, When filled with vision of cosmic rhythm. 4
To fill the self with cosmic rhythm, It needs a change of inner heart,
Such as to shine coal in jewel, It needs a change in atomic form. 5
With broader outlook of the life, Greater and greater grows the soul,
When all is compassed by the self, It one and one becomes with God 6

Path of peace and Piety

3. It becomes a traveller in the summer, When treading towards the sweet home,
To follow a safe straightened path, Covered by cool shade of groves. 7
Similar in the walks of life, Moving towards the goal of truth,
It behoves a man to firmly stick, To path of peace and good conduct. 8
The path of peace is double good, It comforts here and onwards,
Through lovely vistas of heavens, Leads to the goal of eternal bliss. 9
While the unruly ways of life, Denying equal rights to all,
Are ever a menace to this life, And onwards lead to hellish broil. 10

4. It does not matter for a man, To carry weight to half a mile,
Who's fit, strong'and ever used, To carry weight to many miles. 11
so far a path of peace and good, which leads to goal of eternal bliss,
It is not hard to reach a heaven, A half way house on the trip.

5. Heaven, place of songful plays, Free from worldly foes and fears,
Is not the abiding goal of life, But halting place in march of life. 13.

Philosophy of Pain and Pleasure.

6. Pleasures, pains of earthly: beings, Are mere self's imagery things,
They exist no-where but in mind, Engendered by fantastic whims. 14
No outer things are good or bad, They so become by likes dislikes,
A food for one is not for all, It is a well-known fact of life 15
So all the mates of worldly play, Which look delightful and so gay,
Become how hideous, out of tune, When one is filled with with grief and gloom. 16

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ignorance, the Cause of all Ills.

7. Being all engrossed in ignorance, Like drunkards under cover of drugs.
Worldly beings have lost their sense, Of looking things in true colours. 17
8. It is all due to ignorance, That things all distinct and aloof.
Like spouse, childrea, Body, Wealth, Are all viewed as parts of self. 18
9. If seen with clear crystal vision. Free from whims of likes, dislikes.
No more related to us they are, Than forest trees are to birds. 19
They flying come from distant lands, Settle on trecs for the night.
And take to wings for quarters new, When morning comes with feast of light. 20
10. As digger lowers the spade from high, The digger too is lowered by spade.
Who lowers others by aggression, Is surely lowered by the same. 21
This law of action and reaction, Though patent in the realm of life,
But strange it is they fly in passion, When paid are in their own coin. 22
11. For false whims of likes, dislikes, Born of the egotistic trends,
Self is dipped from eternal time, In deep waters of births and deaths. 23

Wordly Life Is a chain of Pains

12. The worldly life is set on frame, Ever on move like waterwheel,
Full of turns of ills and pains, Wth little rest from cares and needs. 24

Wealth is no remedy for worldly ills

13. Wealth hard to earn, and retain, Unstable most, and most unsafe,
One is never safe and sound with it, As fever patient with use of ghee. 25
14. A rich man Like the common folk, Infested though with diverse woes.
Yet being filled with self conceit, He thinks himself immortal being. 26
Like fools taking perch on tree, In the midst of forest fire,
He does not look to roaring flames, Engulfing him like other beings. 27
15. With passage of the fleeting time, Near and near man draws to end,
But how strong is the lust of pelf, He looks to wealth and not to end. 28
16. A poor man wanting heaps of wealth, To give them off in public alms.
Is like a fool who puts on mud, To wash it off with holy bath. 29
17. The lustful pleasures of the world, No sure hand-maids of the wealth,
They while departing leave behind, Grief and sorrow for the mind. 30
18. ...dy is the end of life, It is too frail and short in time,
One need not for its sustenance, Use vile means to heap up wealth. 31
Made of bones and loathsome flesh. Offensive filth and nasty Germs.
It is too hideous and impure, To turn sacred with wealthy Hoard. 32
19. What doth add to vigour of flesh, Doth verily sap the vigour of soul,
And what doth add to wealth of soul, Doth verily end the needs of flesh. 33
As wealth increases greeds of flesh, It verily saps the life of self,
Of what use is the gain of wealth, Which makes you lose divine self. 34

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Concentrated Thought is the only remedy

20. Every thing can be had in life, By force of concentrated thought,
Both the precious and the worthless, Philosopher's gem, or piece of stone. 35
It is to be seffled by the wise, Which of the two is worth attempt,
The devine self of eternal bliss, Or mortal life of filth and ills. 36

Self is the only Thing Worth Realisation

21. The self enframed by body though, Is embodiment of the perfect light,
Shining all, beyond and near, Visible, pure, and crystal, Clear. 37
Excellent bliss, the sublime peace, Free from time, unbound by space,
Infinite, nearest, beyond the beyond, Undying, eternal, ever living.
The final truth, the perfect whole, The end of ends, the goal of goals,
The aim, the light and the way, it is the thing to get realised. 39

Path of self realisation.

22. To Know, realise the boundless soul, Let outward senses be controlled,
Give urges their an inner trend, To seek With-in the joyful ends. 40
Achieve all this with firm resolve, Of mind kept in a balanced boise,
Then drawing your self with-in the self, Meditate on self in steady pose. 41

23. The senses and their objects are, Made of dull, rash, callous matter,
Whoever follows their foot prints, Is usre to fall in painful pits.42
But if the voice of enlightened self, Is heard, grasped and put to work;
One makes a gain of spiritual power, And enjoys the fruits of peace and joy.43
Whatever is inherent in a seed, Is sure to grow up in the field,
So ignorance gropes in darker zones, And light leads to cherished home. 44

Superiority of a Devotee.

24. A devotee of enlightened self, Conquers all the pains of flesh,
He lets not in the vicious trends, And uproots what are Seated deep: 45

25. When subject object are distinct, Separation surely severs their link,
It does Not touch devotee's lot, He is both the seeker and the sought. 46
While one who clings to earthly things, And claims the, same as his own,
He mourns and groans with sorrow's pangs, Deserted when he is lef alo 47

The Unreality of Worldly Life

26. Self is self and matter is matter, The twain can never meet in one,
Their union rests on ego's whims, Baseless, Flinsy and unreal. 48
When one is free from ego's Whims, Free he is from matter too,
So one should make his best efforts, To free himself from ego's rule. 49

The Path of Victory.

27. In all hours of day and night, Sitting, walking or sleeping,
To conquer the evil of egotism, Think, meditate and ever feel. 50

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"Bereft of all the physical ties, I am one, alone, and free,
Untinged by passions and emotion. Peace and purity reign in me." 51
"A seer, a master seer of things, I stand above, aloof from seen,
Unbound by egotisitic whims, I compass all of them in peace." 52
" All the things of the outer world, Inherited and acquired by us,
Are wholly separate and others, There is no love lost between us." 53

The Unholy Union.

28. Union of self with physical things, Is perennial sourec of pains and ills,
With all thy force of thought, word, deed, Give up the greed for outer things. 54

The Divinity of Self.

29. To arise above the earthly woes, Should never lose the sight of soul,
O! feel and feel the warm delight, In divine dignity of the soul. 55
I am not the death, nor disease, Neither young, adult, nor old,
All these things belong to flesh, Nothing is there to fear and mourn. 56
I am,I was; shall ever be, This is the basic truth of life,
In all The quests of charmful bliss, am the architect of plights. 57
" Powerful with my aspirations, Resourceful with imaginations,
Blissful with glorious hopes, I tread my way through thick and thin." 58

Futility of Worldly Quest.

30. "Enchanted by the charms of dust, Again and again I turned to it,
Filled, refilled in all its forms, Put all its poses and its tints." 59
" Moved up and down in varied ways, In various climes, in various place,
Lived in geaven, hellish zones, But none gave the cherished goal." 60
" Ages have past and eras rolled, Still no rest from outer quests,
Now let me turn to inner self, For tried old things, no use of quest. 61

The Struggle of Life

31. The great struggle of worldly life, Against pain, wants and ignorance,
Is struggle against the physical bonds, Forged by foolish whims of self. 62
Self and matter both are real, But differ in roles of cosmic plan,
The one is subject, object other, To cast in forms the inner dreams. 63
The self is whole of space and time, Of charms, of beauty, joy and light,
But the matter is dark, dull, decaying, Ever on move for new combines. 64
The highest charming truth is self, But self through his ignorance,
Entangled in the outer meshes, Confuses matter with his self. 65
Thus there sets a servant's rule, Matter assumes the master's role,
But self being the motive force, It ever asserts the will of soul. 66
As both belong to distinct realms, They ever differ in their trends,
The self is astir for the whole, The matter tends to dingy cells. 67
Life is thus an eternal struggle, To evolve freedom from the bonds,
Life from death, the light from dark, Purge from vice, peace from woes. 68

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Appeal to Self

32. O Self! awake, how long will thou, Serve dictates of alien rule,
And feel proud with names and forms, Like a fool who works as tool. 69
Delay not throw the foreign yoke, And busy thyself with own welfare,
Rule thyself with thy own self, For self rule is the best for self. 70

Master's role in Spiritual Culture.

33. The eternal bliss reveals on him, Who discerns self from motley heap
To equip thee with discerning sense, Practise to sit at master's feet. 71
Master is great beacon light, Showing the various pathe of life,
But helping only those ship-wrecked, Who themselves feel inclined to righ... 72

Self is his Own Guide.

34. Self alone has urge for truth, Animated with his lovely visions,
And makes quests in diverse fields, Propelled by his own missions. 73
35. As ether in the realm of matter, Helps only those prone to move,
So all the teachers and scriptures, Only help right-minded sould. 74
They neither bestow any wisdom, On perverse, inggards, and fools,
Not theyextract any knowledge, From the high enlightened souls. 75
Self alone is foe and friend, He has all the keys of betterment,
So one should look to one's own self, tor all his failures and success. 76

The Essential requisites of a devotee

36. Who has a calm and content mind, Who loves to live a lonely life,
Is eager most for lasting truth, Is devotee best of life divine. 77

Life features of a yogi.

37. The more he reveals the truth of life, The higher he soars from lustful world,
38. The higher he soars from lustful world, the more he reveals the truth of life. 78
39. Enriched with his spiritual sight, He looks on world as game of tricks,
He ever yearns for glorious self, And feels annoyed with earthly things. 79
40. He loves to live in lonely place, Away from mart, away from fame,
Speaks some times for personal need, Yet soon forgets of what he speaks. 80
41. He is fast fixed within his self, Talking though, he does not talk,
Looking though, he does not look, Walking though he does not walk.
42. In ecstasy, self centered he, The world of senses does not heed,
Self alone in cosmic rhythm, Shines to haa as holy film. 82

Yogi Enjoys a free Life.

43. Where settles one with love and ease, There he yearns to live in peace,
And where one gets his heart's content, he makes that place as permanent. 83
44. So devotee is often lost in self, Charmed with inner bliss and glow,
He shuns the false, and loves the truth, He lives within, discards the show. 84
He is ever filled with self content, His mind does not roam abroad,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

His senses too get drawn within, He is not aware of outer things. 85
When no sensations come within, Desires cease to drag abroad,
Mind filled with charims divine, He gets free from worldly bonds. 86

Self Culture is the Best Cultue.

45. Alien, after all an alien, Is ever a source of ills and pains,
Self, being after all one's self, Is ever a sourec of joy and gain. 87
Sages are ever on their guard, Not to yild to alien matter,
They rather use its energies, To get relief of physical needs. 88

46. The fools who ever take delight, In claiming matter as their self,
Are ever, dragged as prisoners war, Through endless gates of births and deaths. 89

47. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast,
And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 90

48. The fruifs of actions piled within, In forms of varied trends, instincts,
From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes. 91
But ascetics of the serene inind, Are not touched by the instincts piled,
They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. 92

Summum Bonum of Life.

49. The glorious lustre, free from bonds. With perfect beauty, peace and joy,
Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul. 93
This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned,
There is nothing greater, more sublime, This is the highest truth of life. 94

Brief Story of Truth

50. Self is self, and matter is matter, The twain can never meet in one,
Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self. 95
Egotism is the greatest devil, Which robs divinity of the self.
Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical 96
To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow
From low to high, from dark to light, From self-conceif to love of all. 97
This is in brief the story of turth, Conveyed to us by sages of yore,
so let us take this truth to hart, and make our lives free and vast. 98

Blessings

51. Living at home, or in woods, Who pays his hced to thesc sermons,
And with the help of knowledge gained, Under all events deeps the same, 99
Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,
Is sure one day to attain the goal, Of perfect and beauteous soul. 100

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट नं० ५

इष्टोपदेशके मूल श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका

	का.नं.
अ	
अगच्छंस्तद्विशेषाणाम्	४४
अभवच्चित्तविक्षेप	३९
अविद्याभिदुरं ज्योतिः	४९
अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं	४९
अज्ञानोपास्तिरज्ञानं	२३
आ	
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य	४७
आन्दो निदेहत्युद्धं	४८
आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं	१५
आरम्भे तापकान्प्राप्ताव	१७
इ	
इच्छत्येकान्तसंवासं	४०
इतिश्चिन्मामणिर्दिव्य	२०
इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य	५१
ए	
एकोऽहं निर्ममः शुद्धोः	२७
क	
कटस्थ कर्त्ताहमिति	२५
कर्म कर्महिताबन्धि	३१
किमिदं कीदृशं कस्य	४२
ग	
गुरुपदेशादभ्यात्पात्	३३
ज	
जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य	५०
त	
त्यागाय श्रेयसे वित्तम्	१६
द	
दिग्देशेभ्यः खगा एत्य	९
दुःखसंदोहभागित्वं	२८
दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण	१३
न	
न मे मृत्युः कुतो भीतिः	२९
नाज्ञो विज्ञत्वमायाति	३५
निशामयति निश्शेष	३९

	का.नं.
प	
परः परस्ततो दुःखम्	४५
परीषहाद्यविज्ञानादा	२४
परोपकृतिमुत्सृज्य	३२
ब	
बध्यते मुच्यते जीवः	२६
ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते	[illegible]
भ	
भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गं	१८
भुक्तोज्झिता मुमुर्मोहान्	३०
म	
मोहेन संवृतं ज्ञानं	६
य	
यज्जीवस्योपकाराय	१९
यथा यथा न रोचन्ते	३८
यथा यथा समायाति	३७
यत्र भावः शिवं दत्ते	४
यस्य स्वयं स्वभावाप्ति	१
योग्योपादानयोगेन	२
यो यत्र निवसन्नास्ते	४३
र	
रागद्वेषद्वयीदीर्घ	११
व	
वपुर्गृहं धनं दारा	८
वरं व्रतैः पदं दैवं	३
वासनामात्रमेवैतत्	६
विपत्तिमात्मनो मूढः	[illegible]
विराधकःकथं हन्त्रे	[illegible]
विपद्भवपदावर्ते	१२
स	
संयम्य करणग्रामं	२२
स्वसंवेदनसुव्यक्त	२१
स्वस्मिन् सदभिलाषि	३४
ह	
हृषीकजमनातङ्कं	५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट नं० ६

इष्टोपदेशकी टीका में उद्धृत श्लोकों, गाथाओं और दोहों की वर्णानुक्रमणिका

अ

अकिंचनोऽहमित्यास्व–गुणभद्राचार्यः
आत्मानुशासनम्
अपराधीजन क्यों करे–दोहा–
ब्र० शीतलप्रसाद
अपि [illegible]कल्पिताः कामाः–
अ[illegible]पार्जने दुःखम्–
[illegible]भक्तिअज्ञानको–दोहा–
ब्र०शीतलप्रसाद

आ

आग्रह छोड़ स्वग्राममें–दोहा–
आतम–हित जो करत है–दोहा–
आत्मदेहान्तरज्ञान–पूज्यपादस्वामि–
समाधिशतकम्
आत्मभाव यदि मोक्षप्रद–दोहा–
आत्मज्ञानात्परं कार्यं–पूज्यपादस्वामि–
समाधिशतकम्
आपहिं निज हित चाहता–दोहा–
आयु क्षय धनवृद्धि को–दोहा–

इ

इत चिन्तामणि है महत्–दोहा–
इदं फलमियं क्रिया करण–शुभचन्द्राचार्यः
ज्ञानार्णवः आशाधरः सागारधर्मामृते
इन्द्रजाल सम देख जग,–दोहा–
इन्द्रियजन्य निरोगमय,–दोहा–
इष्टरुप उपदेशको–दोहा–

उ

उपशम इव मूर्तः– आशाधरः

क

[illegible]र्तार हूँ–दोहा–
[illegible] सरंक्ष्य ये–दोहा–
क[illegible]वै बलिओ जीवो
कर्म कर्महितकार है–दोहा–
किमपीदं विषयमयं–आशाधरः
अनगारधर्मामृत
क्या कैसा किसका किसमें–दोहा–

ग

गदिमधिगदस्सदेहो–कुन्दकुन्दाचार्यः
पंचास्तिकाये
गहियं तं सु अणाणा–अनगारधर्मामृते
गुरुपदेशमासाद्य!
–नागसेनाचार्यः तत्त्वानुशासनम्
गुरुपदेशामासाद्य–
ग्रहण त्यागसे शून्य जो–दोहा–

ज

जब तक एक विपद टले–दोहा–
जयन्ती जगतीवन्द्या–आशाधरः
जस जस आत्म तत्त्वमें–दोहा–
जस जस विषय सुलभ्य भी–दोहा–
जायदि जीवस्सेवं –कुन्दकुन्दाचार्यः
पंचास्तिकाये
जीवकृतं परिणामं–अमृतचन्द्राचार्यः
पुरुषार्थसिद्ध्युपायः
जीव जुदा पुद्गल जुदा–दोहा–
जो खलु संसारत्थो –कुन्दकुन्दाचार्यः
पंचास्तिकाये
जो जामें बसता रहे–दोहा–
झाणस्म ण दुल्लहं किमपीति

त

तथा ह्यचरमाङ्गस्य–नागसेनाचार्यः–
तत्त्वानुशासनम्
तदा च ळपक्षरशमैकाग्र्या–नागसेनाचार्यः
तदात्वे सुखसंज्ञेषु
तदेवानुभवंश्चाय– नागसेनाचार्यः –
तत्त्वानुशासनम्

द

दहनस्तृणकाष्ठंसंचयैरपि
दिशा देशसे आयकर–दोहा–
देखत भी नहिं देखते–दोहा–

ध

ध्यायते येन तद्ध्यानं–नागसेनाचार्यः–
तत्त्वानुशासनम्
ध्यायोतोर्हत्सिद्धरुपेण–१९७.नागसेनाचार्यः
–तत्त्वानुशासनम्

न

न कर्म बहुलं जगन्नचलनात्मकं–
अमृतचन्द्राचार्यः नाटकसमयसारकलशाः
निजानंदनित दहत है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निज अनुभवसे प्रगट है–दोहा–
निवृत्तिं भावयेद्याव–गुणभद्राचार्यः
आत्मानुशासनम्
प
परकी विपदा–दोहा–
परमात्मानमानम्य–आशाधरः–
परिणममानस्य चित्–अमृतचन्दाचार्यः
पुरुषार्थसिद्ध्युपायः
परिषहादि अनुभव विना–दोहा–
प्रगट अन्य देहादिका–दोहा–
प्राणी जा संयोगते–दोहा–
प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं–पूज्यपादस्वामि
–समाधिशतकम्
पुद्गलको निज जानकर–दोहा–
पुण्य हेतु दानादिको–दोहा–
पुत्र मित्र घर तन तिया–दोहा–
पूज्य अविद्या दूर यह–दोहा–
भ
भैया जगवासी तू (टिप्पणी)–बनारसीदास
–नाटकसमयसार
भोगार्जन दुःखद महा–दोहा–
म
मत्तः कायादयो भिन्नास्।
–नागसेनाचार्यः–तत्त्वानुशासनम्
मथत दूध डोरीनितें –दोहा–
मनको कर एकाग्र–दोहा–
मगण रोग मोंमे नहीं–दोहा–
मलविद्धमणेर्व्यक्तिः
मित्र राह देखत खड़े–दोहा–
मुञ्चाङ्गं ग्लपयस्यलं–
मूर्ख न ज्ञानी हो सके–दोहा–
मैं एक निर्मम शुद्ध हूँ–दोहा–
मोहकर्मके उदय से–दोहा–
मोही बाँधत कर्मको–दोहा–
य
यदा मोहात्प्रजायेते–पूज्यपादस्वामि
–समाधिशतकम्
यद्ध्यान रौद्रमार्त्तवा–नागसेनाचार्यः
–तत्त्वानुशासनम्
यस्य पुण्यं च पापं च–गुणभद्राचार्यः
आत्मानुशासनम्
यत्र रागः पदं धत्ते–।२५।
शुभचन्द्राचार्यः–ज्ञानार्णवे
यदात्रिकं फलं किंचित्–नागसेनाचार्यः
–तत्त्वानुशासनम्
र
रम्यं हर्म्यं चन्दनं–चन्द्रपादा–
रागी बध्नाति कर्माणि–
शुभचन्द्राचार्यः– ज्ञानार्णवे–
व
वज्रे पतत्यपि भयद्रुत विश्वलोक–
पद्मनन्दिः पद्मनन्दिः पद्मनंदिपंचविंशतिका.
वस्तु विशेष विकल्पको–दोहा–
विनयेन्दुमुनिर्वाक्या–आशाधरः–
विरमकिमपरेणा–अमृतचन्द्राचार्यः–
नाटकसमयसारकलशाः–
विषयी सुखी दुःख मानते–दोहा–
वेद्यत्वं वेद्यकत्वं च–
नागसेनाचार्यः तत्त्वानुशासनम्–
श
शमसुखशीलितमनसा–
शुचि पदार्थ भी संगते–दोहा–
शुद्धैर्धनैविवर्धन्ते–गुणभद्राचार्यः
–आत्मानुशासनम्–
स
सब पुद्गलको मोहसे–दोहा–
सीलेसिं संपत्तो–नेमिचन्द्राचार्यः–
गोम्मटसारः जीवकाण्डम्
स्वर्ण पाषाण सु हेतुसे–दोहा–
स्वपरज्ञप्तिरुपत्वात्–नागसेनाचार्यः
–तत्त्वानुशासनम्–
स्वबुद्ध्या तत्तुगृह्णीयात्–पूज्यपादस्वामि
समाधिशतकम्–
स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ–
स्वयं कर्म सब नाशकरि–दोहा
ब्र० शीतलप्रसाद–
क्ष
क्षोभ रहित एकान्त में–दोहा–
ज्ञ
ज्ञानमेव फलं ज्ञाने–गुणभद्राचार्यः–
आत्मानुशासनम्–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माँ जिनवाणी स्तुति

माँ जिनवाणी ममता न्यारी, प्यारी प्यारी गोद है थारी ।
आँचल में मुझको तू रख ले, तू तीर्थंकर राजदुलारी ।। टेक ।।

वीर प्रभो पर्वत निर्झरणी, गौतम के मुख कंठ झरी हो ।
अनेकान्त और स्याद्वाद की, अमृतमय माता तुम ही हो ।
भव्यजनों की कर्णपिपासा, तुझसे शमन हुई जिनवाणी ।।१।।
माँ जिनवाणी --------

सप्तभंग मय लहरों से माँ, तू ही सप्त तत्व प्रकटाये ।
द्रव्य गुणों अरु पर्यायों का, ज्ञान आतमा में करवाये ।
हेय ज्ञेय अरु उपादेय का, भान हुआ तुमसे जिनवाणी ।।२।।
माँ जिनवाणी----

तुझको जानूँ तुझको समझूँ तुझसे आतम बोध को पाऊँ ।
तेरे आँचल में छिप-छिपकर दुग्धपान अनुयोग को पाऊँ ।
माँ बालक की रक्षा करना, मिथ्यातम को हर जिनवाणी ।।३।।
माँ जिनवाणी----

धीर बनूँ मैं वीर बनूँ माँ, कर्मबली को दल दल जाऊँ ।
ध्यान करूँ स्वाध्याय करूँ बस, तेरे गुण को निशदिन गाऊँ ।
अष्ट करम की हान करे यह, अष्टम क्षिति को दे जिनवाणी ।।४।।
माँ जिनवाणी ----

[illegible] मुनि यति सब ध्यान धरे माँ, शरण प्राप्त कर कर्म हरें ।
सदा मात की गोद रहूँ मैं, ऐसा शिर आशीष फले ।
नमन करें ''स्याद्वादमती'' नित, आत्म सुधारस दे जिनवाणी ।।५।।
माँ जिनवाणी-----

–गणिनी आर्यिका स्याद्वादमती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् के प्रकाशन

१. स्याद्वांद बाल शिक्षा भाग १
२. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग २
३. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग ३
४. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग ४
५ नैतिक संस्कार भाग १
६ नैतिक संस्कार भाग २
७. नैतिक संस्कार भाग ३
८. भक्तामर स्तोत्र प्रश्नोत्तरी
९. छहढाला प्रश्नोत्तरी
१०. द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी
११. रत्नकरण्डश्रावकाचार
१२. लघु पञ्चस्तोत्र
१३. मोक्षशास्त्र प्रश्नोत्तरी
१४. अमोल रत्न
१५. अद्भूत शक्ति (नारी)
१६. कर्त्तव्य पथ की ओर
मर्यादा की रक्षा
१७. दुखों का मूल
१८. मानव जीवन
१९. तत्त्वार्णव (सप्त तत्व)
२०. वैराग्य की ओर नाटक
२१. मान्य खेट के हीरे
२२. सत् पथ की ओर
२३. युगल आचार्य पूजा
२४. रयणसार
२५. ध्यान सूत्राणि
२६. भक्ति मुक्ति सोपान
२७. विमल ज्ञान प्र० टीका (वि० भक्ति अर्थ)
२८. श्रीमद् जिनहस्रनाम विधान पूजा
२९ सुभौम चक्रवर्ती
३०. शील-कलश
३१. जिनदत्त चरित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् के प्रकाशन

१. सिद्धचक्र विधान (संस्कृत)
२. विमल भक्ति संग्रह (षष्ठम)
३. धर्ममार्ग सार (द्वि०)
४. आराधना कथाकोष (द्वि०)
५. रत्नाकर की लहरें
६. अष्ट[illegible]हुड (द्वि०)
७. पं[illegible]स्तिकाय (द्वि०)
८. [illegible]त्र संग्रह (द्वि०)
[illegible] पुरुषार्थसिद्धयपाय (द्वि)
१०. चर्चासागर
११. चन्द्रप्रभचरित
१२. सम्यक्त्वकौमुदी (द्वि०)
१३. परीक्षामुख (द्वि०)
१४. क्षत्रचूड़ामणि (द्वि०)
१५. तत्त्वानुशासन (द्वि०)
१६. योगसार
१७. नीतिसार समुच्चय
१८. परमात्मप्रकाश
१९. न्यायदीपिका (द्वि०)
२०. शान्तिसुधासिन्धु
२१. इन्द्रनंदि नीतिसार
२२. इष्टोपदेश (तृ०)
२३. समाधितन्त्र (तृ०)
२४. वरांगतचरित (संस्कृत, हिन्दी)
२५. भरतेश वैभव (भाग -१,२) द्वि ०
२६. वैरागमणि माला
२७. ध्यानसूत्राणि (तृ०)
२८. श्रुतावतार
२९. अमितगतिश्रावकाचार
३०. महामृत्युंजय पूजा विधान
३१. स्वयंभूस्तोत्र (द्वि ०)
३२. [illegible]व्यसंग्रह प्रश्नोत्तर (टीका षष्ठम)
[illegible] रसायन
[illegible]
३५. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार
३६. आलापपद्धति (द्वि ०)
३७. मदनपराजय
३८. वसुनन्दिश्रावकाचार
३९. सागरधर्मामृत (तृ०)
४०. बोधामृतसार
४१. पाण्डवपुराण (द्वि ०)
४२. आप्तपरीक्षा (द्वि ०)
४३. पार्श्वचरितम् (द्वि०)
४४. जीवकचिन्तामणि
४५. आप्तमीमांसा
४६. मेरुमन्दरपुराण
४७. युक्त्यनुशासन
४८. सूर्य प्रकाश ग्रन्थ
४९. भाव संग्रह
५०. लघुतत्त्वस्फोट
५१. रत्नकरण्डश्रावकाचार-टीका
५२. अमरसेनचरित्र
५३. मूलाचार भाषा वचनिका
५४. पद्मपुराण
५५. प्रमेयरत्नमाला
५६. यशस्तिलकचम्पू भाग-१
५७ यशस्तिलकचम्पू भाग-२
५८. अर्थप्रकाशिका
५९: निजात्मशुद्धिभावना
६०. आत्मानुशासन (द्वि०)
६१. सुधर्मध्यान प्रदीप
६२. मंगलघट के भीतर अमृत
६३. भक्तिमुक्तिसोपान
६४. अंगपण्णत्ति
६५. पार्श्वाभ्युदय
६६. मल्लिनाथपुराण (द्वि०)
६७. विमलनाथपुराण (द्वि ०)
६८. नेमिनाथपुराण (द्वि ०)
६९. प्रवचनसार
७०. धन्यकुमार चरितम्
७१. सिद्धप्रिय स्तोत्र
७२. सुदर्शनचरित
७३. अमृताशीति
७४. रयणसार
७५. मोक्षशास्र (प्रश्नो० टीका तृ०)
७६. मर्यादा की रक्षा (तृ ०)
७७. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-१
७८. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-२
७९. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-३
८०. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-४
८१. पंचामृताभिषेक पाठ (द्वि ०)
८२. वात्सल्यरत्नाकर भाग १,२,३
८३. नैतिक संस्कार भाग-१-३
८४. सुभौम चरित्र
८५. पद्मपुराण हिन्दी
८६. भक्तामर स्तोत्र (प्रश्नो०टी०)
८७ युगल आचार्य पूजा
८८. सर्वार्थसिद्धि (मूल)
८९. बालबोध स्तुति शिक्षा (च०)
९०. छहढाला (प्रशनो०टी०षष्ठम)
९१. चारित्रचक्रवर्ती
९२. शान्तिनाथ विधान
९३. नित्यपाठावली
९४. कल्याणमन्दिर स्तोत्र विधान
९५. चौबीस ठाणा
९६. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका
९७. सुशीला उपन्यास
९८. हनुमानचरित
९९. अलौकिक दर्पण
१००. प्रशांत वाणी (द्वि०)
१०१. जैनशासन
१०२. धर्मपरीक्षा
१०३. शान्तिनाथ पुराण
१०४. महावीर पुराण
१०५. प्रद्युम्नचरित
१०६. चौबीसी पुराण
१०७. पुण्यास्रवकथाकोष
१०८. मदनजुद्ध काव्य
१०९. भावत्रयफलदर्शी
११०. श्रेणिकचरित्
१११. तीर्थराज पर आचार्य विमलसागर कृतित्व
११२. श्रीमद्भगवद् जिनसहस्रनाम पूजा विधान
११३. भक्तामर विधान
११४. णमोकार मंत्र कल्प
११५. विमल ज्ञान प्रबोधिना टीका (द्वि ०)
११६. भारत का भरत (द्वि ०)
११७. मान्यखेट के हीरे
११८. सम्मेदशिखर माहात्म्य (द्वि ०)
११९. सत्पथ की ओर
१२०. जिनाभिषेक
१२१. सम्मेदशिखर पूजा विधान
१२२. जिनवाणी
१२३. ऋषिमण्डल विधान
१२४. जिनदत्त चरित
१२५. नागकुमार चरितम्

5308

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi